व्यास-भाष्य-सहित

पातञ्जल योगसूत्र

बंगाली बाबा कृत

अंगरेज़ी अनुवाद से

हिंदी

अनुवादिका

कुमारी बृजरानी देवी

एम्. ए.

मूल्य पाँच रुपया

प्रकाशक— एन. आर. भार्गव,
३ लाइन् बझार, ईस्ट खडकी, पूना ३.

इतिपूर्व ३५।११ निस्बत रोड, लाहौर (पंजाब) के निवासी **श्रीमान् श्यामसुन्दर मुल्खराज पुरी**, बी. ए., एल्एल्. बी., महाशय मेरी अंग्रेजी पुस्तकों के सर्वप्रथम प्रकाशक थे, परन्तु अतीव दु:खपूर्ण घटना यह है कि विगत १५ अगष्ट १९४७ ई. के इतिहास-प्रसिद्ध पंजाब-उपद्रवकाल से आरम्भ कर आजतक प्रकाशक महाशय की परिस्थिति मुझे अज्ञात है। तत्कारण पंजाब हुशियारपुर के निवासी तथा यहां के सामयिक प्रवासी **श्रीमान् नौहरियाराम भार्गव** महाशय के नामपर दयालु **बम्बई सरकार** से इस विशेष प्रयोजनीय पुस्तक की मुद्रणाज्ञा प्राप्त कर इसे प्रकाशित किया गया है। अत: **शेषोक्त महोदय** को ही **अस्थायी प्रकाशक** तबतक के लिये नियुक्त किया गया है जबतक कि मेरी पुस्तकों के सब प्रकार का कार्यभार उठाने में पूर्णत: समर्थ कोई सज्जन न मिल जायें, निवेदनमिति।

ता. ७ सप्तम्बर १९४८ ई० **—बंगाली बाबा**

[ग्रन्थकारद्वारा सब अधिकार सुरक्षित]

मुद्रक— श्री. भ. पं. सोमण, मॉडर्न प्रिंटिंग प्रेस,
३९१ नारायण पेठ, पुणें २.

स्वीकृति

मेरे ग्रन्थों के प्रकाशन में श्रीयुक्त मुल्खराज
पुरी महाशय तथा उनके परिवार ने जो
हार्दिक सहायता दी उसके
लिये मैं उनके
प्रति अति
कृतज्ञता-
ऋण
से
ऋणी
हूं।

समर्पण

येरावदा टेकरी पूना में दत्त मंदिर निवासी
श्री पंच जूना अखाड़ा के महात्मा
स्वर्गीय श्रीमद् स्वामी अयोध्या-
भारती जी की पुण्य
स्मृति में
अर्पण
किया जा
रहा
है ।

पाठकों से आवेदन

आधुनिक इतिहास के विचारवान् पाठकोंको विदित ही है कि आज-कल कहीं काला-गोरा आदि रङ्गभेद लेकर, कहीं राष्ट्रीयता की कुभावना से, कहीं धनी-दरिद्र के प्रश्न से अथवा कहीं धार्मिक व सामाजिक उत्तमाधम स्थिति सम्बन्धीय ईर्षा-द्वेष को लेकर समग्र विश्व में असंख्य नरहत्या व अशान्ति फैली हुई है तथा उन महापुरुषों के नामों से भी वे परिचित हैं जिन्हें इन भेदभावों को मिटा कर शान्ति स्थापना के अनुसन्धान में अपने जीवन से ही हाथ धोने पड़े हैं। परन्तु जगत् में बन्धुत्व व भ्रातृभाव की वृद्धिद्वारा एकता व शान्ति के बदले दिन प्रतिदिन नया नया भेद व कलह ही बढ़ता हुआ देखा जाता है। इन परिणामों से यह स्पष्ट है कि इस ऐतिहासिक युग के किसी व्यक्ति ने भी शान्ति के मौलिक तत्व को नहीं ढूँढ पाया तथा यह भी प्रमाणित होता है कि आधुनिक युग के उन महान् पुरुषोंने जो कुछ भी सुख साधन का आविष्कार किया है; वह किसी न किसी अंश में न्यूनाधिक दोषयुक्त रह गया है जिस का होना स्वाभाविक ही है, कारण मानव स्वभावतः अपूर्ण ही रहता है। अतः मानवसृष्ट सुखसाधन भी परिपूर्ण नहीं हो सकता। इसी कारणही प्राचीन **महर्षिगण** ईश्वरप्रणीत **वेदशास्त्रों** को ही मानवीय सुखसाधन का एक ऐसा **आधार** बतलाते हैं जिसे आधुनिक इतिहास छू ही नहीं सकता।

मैं ऐसा विद्वान् नहीं हूं कि विश्वभरके इतिहास पढ़ कर सब राष्ट्रोंकी स्थितिका सन्तुलन कर सकूं, परन्तु **भारतवर्षके प्राचीन व आधुनिक स्थितिपर तुलनात्मक दृष्टि डालनेसे यह दीख पड़ता है कि आज मानव-समाज में जितने भी विरोध उत्पन्न हुऐ हैं इन सब का मूल कारण 'नाम व रूप'** की बड़ाई है और **'नाम-रूप'** की ऐसी लालसा बुद्धि की उल्टी गति से ही आती है। अतः यह अतीव सत्य है कि आज मानव-जाति की मानसिक गति उल्टी ओर दौड़ रही है। शास्त्रालोचना से यह जाना जाता है कि प्राचीन पूर्व-**पुरुषों को** यह ज्ञान था कि 'नामरूप' मिथ्या (अर्थात् उल्टी गतिवाला) है। तत्कारण वे महत् उद्देश्य सम्मुख रख कर बहु प्रकार के शुभ कर्म करते हुऐ कहीं भी अपने 'नाम व रूप' के कोई भी चिन्ह नहीं छोड़ गये तथा ईश्वरपरायण होकर भोगापवर्ग का एकमात्र नित्य उपाय **धर्म** को अपनाते हुए उन्हों ने सर्वत्र **पंचोपासना** के अर्थ विभिन्न मूर्त्तियों की स्थापना की थी जो ईश्वर की अभिव्यक्ति के ही प्रतीक हैं।

विपरीत इसके, कालक्रम में लोग अपने अपने 'नाम व रूप' के पीछे भागते हुए सम्प्रदायवाद के आधार पर दलसंगठन में प्रोत्साहित हुए। एतदर्थ निष्काम का बहाना लेकर नीच स्वार्थमय भावना से ही ओतप्रोत होते गये। इसके परिणाम में यह हुआ कि प्राचीन देवमन्दिर व तीर्थस्थान क्रमशः नष्ट होते गये तथा नये नये साम्प्रदायिक ईश्वर व नित्यप्रति नूतन नूतन विरोधी स्तम्भ खड़े होते आये। अतः जीवन में यदि वास्तविक शान्ति को प्राप्त करना है तो दिशा को ही सर्वथा एव पलटना पड़ेगा। परन्तु इस प्रकार का परिवर्तन आधुनिक अविवेकपूर्ण हठधर्मी सभ्यजगत् के लिये असम्भव सा प्रतीत होता है।

यहां बहुतों का कहना है कि यद्यपि प्रागैतिहासिक युग में वेदशास्त्र ही सुखसाधन का एकमात्र आश्रय था, तथापि उस युग की स्थिति का इतिहास न रहने से सब कुछ उनके ज्ञान के बाहर है। परन्तु आज वे देख रहे हैं कि वही शास्त्र बहु प्रकार के विरुद्ध मतवादों का आधार बन कर भारतवर्ष के अधःपतन का कारण हुआ है। अतः उनका कहना है कि वेदशास्त्रों का सर्वथा वर्जन ही आज देशहितार्थ समयानुकूल कर्म है—यही यहां शङ्का है।

उक्त विरोधी भावना निवारणार्थ पाठकों से प्रार्थना है कि यदि वे उपरोक्त कथनानुसार दृष्टिकोण को बदल कर सरल अन्तःकरण से **बंगाली बाबा** द्वारा व्याख्यात **पातञ्जल योगसूत्र** व **श्रीमद्भगवद्गीता** (जीवन-समस्या का समाधान) का ध्यानपूर्वक अवलोकन करेंगे तो उनकी सब शङ्का पूर्णतया निवृत्त हो जायगी।

फिरभी, यहां यही कहना पर्याप्त है कि जैसे सूत की गोली का छोर लुप्त होने पर यदि आजू-बाजू से धागा खींचा जाय तो सर्वत्र गांठ ही गांठ दीख पड़ेगी; परन्तु दृष्टिसम्पन्न एक शिशु भी यदि छोर को निकाल दे तो वेही गांठें साफ सरल खुल जाती हैं। ठीक ऐसी ही आज वेदशास्त्रों की भी स्थिति है। आधुनिक टीकाकारों में **भेदात्मक दृष्टिकोण** के प्रभाव से ही आज बहु प्रकार के मतविरोध खड़े हुए हैं। परन्तु बंगाली बाबा का दृष्टिकोण **संयोगात्मक** है जिसके आधार पर शास्त्रावलोकन करने से कहीं भी मतविरोध के लिये स्थान ही नहीं रहेगा। जो कुछ भी अशान्ति आज विश्वभर में उत्पन्न हुई है, यह सब केवलमात्र दृष्टिकोण के दोषसे ही हुई है। इसी कारण ही जो भाषा पूर्णतः प्राञ्जल, संयुक्त, विश्वव्यापक, चिरसिद्ध, विधिबद्ध एवं अन्य सब भाषाओं के नींव स्थानीय है, उसी को ही आज मृत माना जाता है; परन्तु जो भाषा विभक्त, प्रादेशिक, विधिशून्य, अपूर्ण व निराधार है, उसे ही आज जीवित कहा जाता है। जो विद्या परिपूर्ण स्वतःसिद्ध, संगठनमूलक एवं निरतिशय महत्त्वपूर्ण है, उसी विद्या की आज उपेक्षा की जाती है; परन्तु जो विद्या असम्पूर्ण, विध्वंसक, सुधार-योग्य व महत्त्वशून्य है, वही विद्या आज चित्ताकर्षक है। जो इतिहास अनादि-अनन्त तथा युग-युगान्तरों का, कल्प-कल्पान्तरों का वर्णन करता है, उसे आज उपहास की दृष्टि से देखा जाता है; परन्तु जो इतिहास तीन हजार वर्ष के पूर्व की स्थिति को देखने में अन्ध बन जाता है तथा दूषित मनोवृत्ति के संकेत से सृष्ट व परिपुष्ट है, वही इतिहास आज समादृत है। जो कालगणना सब से प्राचीन व सर्वसाधारण तथा राशि-चक्र पर सूर्य के नियमपूर्वक क्रमिक संक्रमण से आरम्भ हो कर सदा ही बारह महीनों द्वारा वर्ष पूर्ण करती है, उसे आज बहुत करके भुला दिया जाता है; परन्तु जो कालगणना एकपक्षीय, नियमशून्य तथा भेदभावपूर्वक या तो पूर्णिमा से अथवा अमावस्या से अथवा शुक्ला द्वितीया तिथि से आरम्भ होती है एवं अनियमपूर्वक कभी कभी तेरह महीनों द्वारा वर्ष पूर्ण करती है, उसे ही प्रान्ताभिमान अथवा जातीयताभिमान से दृढ़ता-पूर्वक धारण किया जाता है। अब पाठक ही विचारें कि यह सब सरल बुद्धि का कर्म है या उल्टी बुद्धि का।

अतःपर ज्ञात अथवा अज्ञात भाव से भी **भेदात्मक** दृष्टिकोण के आजाने के कारण ही आधुनिक महान् पुरुषगण महदुद्देश्य सम्मुख रखते हुए भी वेदशास्त्रों के मौलिक सर्वाङ्गीण प्रामाणिकता **(शरीर-शासन-तत्त्व)** को खो बैठे तथा अन्तमें संकुचित **एकाङ्गनीति** पर जा पहुँचे; कारण मानव-बुद्धि स्वभावतः अपूर्ण रहती है यद्द्वारा कर्म भी दोषयुक्त हो जाते हैं। इसी कारण ही आधुनिक महान् पुरुषों द्वारा स्थापित किये गये मतवाद सर्वाङ्गीण सत्य पर प्रतिष्ठित न होने से व्यक्ति-गत कपोल कल्पना के परिणाम बन कर निकट भविष्य में ही किसी न किसी सम्प्रदायवाद का आकार धारण कर चुके हैं। परन्तु बंगाली बाबा की दृष्टि **संयोगात्मक** है। इन्होंने किसी भी व्यक्तिविशेष अथवा सम्प्रदाय-विशेष की रुचि-अरुचि पर ध्यान न रखते हुए शरीर-शासन-तत्त्व सम्बन्धीय सर्वाङ्गीण शास्त्रप्रमाण को ही सर्वश्रेष्ठ प्रधानता दे कर अपना व्यक्तिगत विचार प्रकट किया है तथा इनका यही निवेदन है कि इनके ग्रन्थों का संशोधन व परिवर्धन किसी व्यक्तिविशेष द्वारा न हो कर बहु विद्वानों की सम्मिलित सम्मति से किया जाय, इसी प्रकारसे इनका दृष्टिकोण अथवा भावप्रवाह सुदूर भविष्य में भी किसी भी प्रकार का संकुचित दृष्टि-वाला साम्प्रदायिक आधार नहीं बन पायेगा।

बहुतों की यह समझ है कि धर्म को एक बाजू हटा कर एकमात्र राजनीति द्वारा ही देश में शान्ति स्थापित की जाय जैसे कि अन्यान्य राष्ट्र राजकीय कूटनीति की चाल से आधिपत्य विस्तार के प्रयत्न में हैं।

उपरोक्त विचार सर्वथा ही भ्रममूलक है, कारण वे लोग '**धर्म**' के व्यापक अर्थ को न जानते हुए आधुनिक धार्मिक सम्प्रदायों की नीच मनोवृत्ति व अमानुषिक कृत्यों को देख कर '**धर्म**' को एक काल्पनिक अर्थ में ले बैठे हैं। वास्तवमें अन्य किसी भी भाषा में ऐसा कोई भी **प्रतिशब्द नहीं** है जो वेदशास्त्र के '**धर्म**' अथवा '**दर्शन**' आदि शब्द के अर्थ को प्रकाशित कर सके। वेदशास्त्रानुसार **धर्म** (स्रष्टा ईश्वर अर्थात् शब्दकोष्ठक में **एकजीव** ना **चैतन्य**) द्वारा ही विश्वसंसार धृत वा व्याप्त है तथा **धर्म (क्रमबद्ध क्रियाविधि)** की सहायता से ही

धर्म (स्रष्टा ईश्वर) को प्राप्त किया जाता है। दूसरे शब्दों में अन्तर्निहित आदिशक्ति नामक **पराप्रकृति** अर्थात् जगत्स्रष्टा **सक्रिय ईश्वर** तथा **वेदशास्त्र-विहित क्रमबद्ध क्रियाविधि** को '**धर्म**' कहा जाता है। परन्तु सब के अन्तिम कारण ब्रह्म '**धर्मी**' नाम से अभिहित होता है। इसी कारण ही '**धर्म**' (सक्रिय ईश्वर व क्रमबद्ध क्रियाविधि- इन दोनों) को सदा ही **आद्यन्तशून्य नित्य** माना गया है। यही धर्म का व्यापक स्वरूप है जो काल द्वारा सीमाबद्ध नहीं है तथा इस ऐतिहासिक युग के सब धार्मिक सम्प्रदायों का उत्पत्ति-स्थल है। यह '**धर्म**' किसी व्यक्तिविशेष या राष्ट्रविशेष की सम्पत्ति नहीं है। यह उसी की सेवा करता है जो इसे सम्भाले तथा यह उसी की रक्षा करता है जो इसकी रक्षा करे। उदाहरणार्थ— सूर्य सर्वसाधारण का होता हुआ भी केवल उसी को ही ताप देता है जो धूप में बैठे। इसी कारण ही प्राचीन **महर्षियों** ने हमारी जीवन यात्रा की सब परिस्थितिओं के साथ '**धर्म**' को संयुक्त कर रखा है जैसे कि राजधर्म, गृहस्थधर्म, सेवाधर्म, दानधर्म, मोक्षधर्म, आपद्धर्म इत्यादि। जब आपदों से मुक्त होने के उपाय के साथ भी **धर्म** का अभिन्न प्रयोग हुआ है, तब इस '**धर्म**' को जीवनक्रम से वियुक्त करके मानव-समाज कैसे सुखी हो सकता है? भारत यदि आज **धर्म** को भूल जाय तो अखिल संसार से **ईश्वर** का नाम सदाकाल के लिये उठ जायगा। वास्तवमें यहां हमें अतीव प्रयोजनीय वस्तु यह है कि हम **अपधर्मों** (धर्म के उल्टे मार्गों) से सचेत हो जायं तथा हम सम्मिलित प्रयत्न से '**धर्म**' को व्यक्तिगत कपोल-कल्पना के जटिल जाल से मुक्त करके क्रमबद्ध **अध्यात्म-विज्ञान** के निर्भूल रूपरेखा में समग्र विश्व के सम्मुख उपस्थापित करें। यह कार्य तब ही सम्पूर्ण होगा जब नेतृस्थानीय विद्वानों की समष्टि समवेत शक्ति से बुद्धिबल द्वारा **धर्मतत्त्व का निर्णय** करेगी; क्योंकि बुद्धिबल ही सब से महाशक्ति है जो कर्म सहित शरीर व मन का नियामक है।

धर्मयुद्ध की घोषणा द्वारा अथवा विना घोषणा के, वैदिक धर्म पर जितने ही भीषण आक्रमण अबतक हुए हैं तथा अभी भी जो कुछ भी अमानुषिक अत्याचार हो रहे हैं–इन सब का होना तब ही सम्भव हुआ, जब **जन्माधिकार से स्वाभाविक** ही प्राप्त **वैदिक धर्म** को परकीय धर्म माना गया, उदार **सर्वाङ्गीण तत्त्व** की अवहेलना से संकुचित **एकाङ्गनीति** की उत्पत्ति ही इस प्रकारके विपरीत ज्ञान का मूल कारण है। फिर यह सब नेताओं की मानसिक गति व प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। स्वार्थपर नेता गरीब जनता के लहू से अपना पेट भरता है और जनसेवी नेता यथासर्वस्व दे कर ही जनता की सेवा करता है। अतः नेता यदि धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ रहें तथा राजशक्ति यदि धर्म पर प्रतिष्ठित न हो तो शासन-पद्धति व प्रजा दोनों ही पाप में अवश्य ही डूब जायंगी। फिर शान्ति कहां से आयेगी? धर्म ही तो सुखशान्ति का उद्गम-स्थल है।

बड़े ही दुःख का समाचार यह है कि नेतृस्थानीय विद्वान् लोग आज अपनी विद्वत्ता का सदुपयोग करते हुए नहीं देखे जाते हैं। अंग्रेजी में योगसूत्र व भगवद्गीता प्रकाशित होने के पश्चात् भारत के विभिन्न स्थानों में कई एक मुख्य पत्रकार व विद्वानों के पास पुस्तकें भेजी गयी थीं; परन्तु बहुतों से स्वीकृति-पत्र तक नहीं मिला था। कहीं कहीं से यद्यपि समालोचनाएं प्रकाशित हुई भी थीं, तथापि समालोचकगण ऐसे प्रतीत हुए कि वे **धर्म** को क्रमबद्ध **अध्यात्म-विज्ञान** के रूप में ग्रहण ही नहीं कर सकें जिसे गौरवपूर्वक समग्र विश्व के लिये **सर्वसामान्य एक** ही करके सिद्ध किया गया है। भारत के पश्चिम प्रान्तीय एक विख्यात पत्रकारने तो व्याख्याकार की भावधारा का गुण-दोष उद्घाटन करने के बदले वेदशास्त्र के प्रति ही घृणाभाव प्रदर्शन किया था। फिर भी आनन्द का सम्वाद **यह** है कि मद्रास के '**दी हिन्दू**' अंग्रेजी दैनिक पत्र के ता. १८ फेब्रुआरी १९४५ ई. अङ्क में भगवद्गीता पर प्रकाशित हुई समालोचना प्रसंशनीय थी जिस के समालोचक **श्रीयुक्त के. सी. वरदाचारी** महाशय थे; परन्तु जो समालोचना कलकत्ता के अंग्रेजी मासिक पत्र '**दी मॉडर्न रिव्हयु**' इ. सन १९४६ फेब्रुअरी अङ्कमें भगवद्गीता पर प्रकाशित हुई थी, वही श्रेष्ठतम व बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी जिस के समालोचक **श्रीयुक्त बाबु जे. एन. वसु** महाशय थे। इन्हों ने योगसूत्र पर भी अंग्रेजी में बहुत ही प्रशंसनीय समालोचना दी थी जो कलकत्ता के ही एक बंगाली मासिक पत्र में समसामयिक प्रकाशित हुई थी। पीछले

ई. १९४७ के अगष्ट महीने में पंजाब—उपद्रव के कारण लाहौर में सब कागजपत्र नष्ट हो जाने से यहां मैं उस बंगाली मासिक पत्र का नामोल्लेख नहीं कर सका।

उक्त प्रकार की घटना हिन्दी गीता के सम्बन्ध में भी देखी गयी है। विगत ई. १९४७ के फेब्रुअरी महीने में जब उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्तस्थ बहुसंख्यक सम्प्रदाय के प्रतिस्पर्धी व रक्तपिपासु राजनैतिक दलभुक्त जनसमूह द्वारा व्यापक भाव से आयोजित क्रूर संहारयज्ञ में अल्पसंख्यकों के असंख्य मूल्यवान् जविन का बलिदान दिया गया तथा स्वार्थपर नेताओं के सम्प्रदायमूलक हिंसात्मक प्रचार से जब अखिल पंजाब प्रान्त का वातावरण भी अत्यन्त ही दूषित हो चुका; ठीक उसी काल में जिला लुधियाना निवासी फौजी कर्मचारी तथा इन ग्रन्थों के कार्य में सर्वाग्रगण्य आद्यन्त सहायक **श्रीयुक्त सर्दार कृपाल सिंह** महाशय **बंगाली बाबा** को अपने साथ आपद्ग्रस्त **पंजाब** से निरापद स्थान **पूना** में ले आये। तदनुसार हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन-कार्य सम्बन्धीय मुद्रणालय आदि की व्यवस्था का भार संयुक्तरूप से **श्रीयुक्त नौहरिया राम देवशर्मा** (भार्गव) महाशय व मुझपर अर्पित हुआ। अतःपर हिन्दी गीता प्रकाशित होने के पश्चात् ही बंगाली बाबा की ओर से पत्र सह बहुत सी प्रतियां प्रधान नेता, विख्यात विद्वान् तथा मुख्य पत्रकारों के पास भेज दी गईं। परन्तु कई एक सज्जनों से केवलमात्र स्वीकृति-पत्र ही मिला, बाकी सर्वोंसे उदासीनता ही देखी गयी है। किसी किसी स्वीकृति-पत्र में ऐसा भाव भी देखा गया है कि ग्रहण-कर्ता हिन्दी भाषा में वैदिक ग्रन्थों को हिन्दीसाहित्य की श्रेणी में स्वीकार ही नहीं करते। उनमें वृहत् प्रान्तीय शिक्षण-केन्द्र (विश्वविद्यालय) के अधिकारी पुरुष भी हैं जो साक्षात् गीता के प्रति ही द्वेषभाव पोषण करते हुए देखे गये हैं। एकमात्र दिल्ली के '**वीर अर्जुन**' हिन्दी साप्ताहिक ता. ५ जनवरी १९४८ ई. के अङ्कमें **श्रीयुक्त प्रोफेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति** महाशय द्वारा दी हुई समालोचना उल्लेखयोग्य है। उपरोक्त थोडे ही सज्जन देखे गये हैं जिन्हों ने अपना कर्त्तव्य नियमपूर्वक निभाया। इस लिये उक्त सज्जन व उनके अनुसङ्गी सत् पुरुषों के प्रति मेरा हार्दिक धन्यवाद है।

विद्वानों की ओर से इस प्रकार की उदासीनता व कटु दृष्टि का कारण हमें यह भासता है कि जो पुरुष राजनैतिक क्षेत्र में आबद्ध हैं, उन्हें तो अवसर ही नहीं कि वे धर्म के विषय में ध्यान दे सकें। द्वितीयतः अधिकांश धर्मप्रचारकगण तथा धर्म के व्यवसायी पत्रकारगण **धर्म के काला बाजार** से हर तरह के सांसारिक लाभ उठाने में ही व्यस्त हैं। और तृतीयतः जनसाधारण तो इस गूढ तत्त्व को समझते ही नहीं। अतः यदि धर्मगुरु तथा विद्वानों की स्थिति ऐसी ही रह जाय तो धर्मतत्त्व का निर्णय होना असम्भव सा प्रतीत होता है। अब पाठक ही गम्भीरता से विचारें कि इस संसार में सुखशान्ति का पथ किस उपाय से ढूँढ निकाला जा सके निवेदनमिति।

ता. २१ मार्च १९४८ ई.

ठा. हरबख्श सिंह परिहार
३, येरावदा, पुना—६।

विशेष द्रष्टव्यः—जब **धर्म का प्रश्न** ही प्रधान उपादान है जिसके आधार पर **भारतभूमी** को आज **विभाजित** करके **रक्तनदी** में प्रवाहित किया गया है, तब संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख उसी **धर्मतत्त्व निर्णय की समस्या** को ही सर्वप्रथम मुख्य स्थान क्यों न दिया जाय? यदि कोई प्रभावशाली पुरुष इस अत्यावश्यकीय विषय की ओर **भारत-सरकार का ध्यान** आकृष्ट कर सकें, तो मेरे मत में वेही निःसन्देह यथार्थ **देशभक्त** व **धर्मवीर** माने जायेंगे इति।

भूमिका

पृथ्वी के सब सभ्य लोग दृश्यमान जगत् से परे किसी एक नित्य सत्ता पर विश्वास रखते हैं, चाहे कोई इसे ईश्वर, कोई शिव, कोई ब्रह्म, कोई गॉड और कोई अल्लाह आदि नाम से पुकारे। स्मरणातीत काल से दार्शनिक पंडितगण अपने अपने बुद्धिबलानुसार उसका स्वरूप निर्णय करने में यत्नवान् रहे हैं। तो भी, अब तक उनके सारे प्रयत्न अपूर्ण रह गये हैं। उनके भ्रमपूर्ण सिद्धांतों का यही परिणाम निकला है कि प्रेम के बदले में घृणा, एकता को छोड़ कर भेदभाव, शांति की जगह उद्वेग तथा सुख के स्थान में दुःख बढ़ता जाता है। अतः सब ने पुण्य के बदले में पाप को ही मोल ले लिया है (देखो यो. सू. २।३०)।

यहां एक प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर एक सत्य 'वस्तु' है जो प्रत्यक्ष देखा जा सके? अथवा क्या वह केवलमात्र वाणी के शब्दों पर आधार रखता हुआ वस्तु-शून्य मनोकल्पना रूप घोड़े के अंडे की तरह एक कपोलकल्पित विषय है?

मेरे मतानुसार जगत् में भारतीय दर्शन-विज्ञान के बिना ऐसा कोई भी विद्या अथवा शास्त्र नहीं है जो उस सत्ता के विषय पर संतोषजनक उत्तर दे सके। अन्य सब धार्मिक सिद्धात केवल चित्ताकर्षक नैतिक उपदेश ही हैं जो चित्त-शुद्धि की ओर कुछ दूर तक सहायता करते हैं। यह चित्त-शुद्धि योग के लिये एक निकृष्ट योग्यता ही रखती है। अतः ये सब धर्मोपदेश अपनी अपनी क्रमोन्नति के लिये वेदशास्त्र पर ही निर्भर करते हैं। भारतीय दर्शनविज्ञान को एक ही माना जाता है तथा यह विज्ञान श्रुति, स्मृति, पुराण व इतिहास रूप वेदशास्त्रों के सारभूत छः मूल ग्रन्थों को ले कर पूर्ण होता है। गिनती के क्रम में योगसूत्र का पांचवां स्थान है तथा यही योगविद्या ईश्वर के साक्षात् दर्शन के लिये केवल एक ही वैज्ञानिक पथ को दिखाती है। यह नहीं सोचना कि यह विज्ञान आधुनिक भौतिक जड़ विज्ञान के विरुद्ध चलता है, परन्तु यह और भी तीन उच्चतर पदों पर पहुंचता है जहां अब तक जड़विज्ञान नहीं पहुंच पाया (यो. सू. २।१९)।

ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति के लिये एकमात्र उपाय रूप दार्शनिक मूल ग्रन्थों की क्रमबद्ध सीढ़ी के विषय में यथायोग्य शिक्षा न प्राप्त होने के कारण ही आज-कल के दार्शनिक पंडितगण भ्रम में पड़ गये हैं। ये लोग यह मानते हैं कि दर्शनविज्ञान के छः मूल ग्रन्थ परस्पर किसी प्रकार का संबंध न रखते हुए छः स्वतन्त्र दर्शन हैं। तदनुसार, ये पक्षपात दृष्टि से चालित हो कर एक दूसरे के खंडन में बहुत ही तत्पर हैं। उनके भिन्न भिन्न सिद्धांत नीच स्वार्थी साम्प्रदायिक गुरुओं के खड़े होने का आधार बन गये हैं। यदि हम वर्तमान दार्शनिक मतवादों के विषय को गंभीर ध्यान से विचारें, तो हम देखते हैं कि जब से ब्रह्मसूत्र पर भिन्न भिन्न तथा परस्पर विरुद्ध भाष्यों को ले कर झगड़ा आरंभ हुआ, उसी दिन से ही हम स्थिति को खो बैठे हैं तथा दिन प्रतिदिन उसे और भी खोते जा रहे हैं।

जो लोग केवल न्याय-शास्त्र को ही पढ़ते हैं तथा योगसूत्र की विद्या पर ध्यान नहीं देते, वे पक्षपात दृष्टि से अन्धे होते हुए ब्रह्मसूत्र के मूल तत्त्व को समझ नहीं पाते और बड़े साहस से यह कह कर विरोध करते हैं कि अद्वैत सिद्धांत का नाम लेना भी घोर मूर्खता है; कारण, वे लोग इस सिद्धांत को अति हानिकारक तथा भ्रमजनक मानते हैं।

अद्वैतवाद का समर्थन करने वाले दूसरे लोग समान रीति से मध्यवर्ती शास्त्र योगसूत्र पर कुछ भी ध्यान न देते हुए प्रचार करते हैं कि भगवान् शंकराचार्य कर्म का पूर्णतया खंडन करते हैं, और केवल अहंग्राह्य उपासना (अर्थात् अपने आप को ब्रह्म मानना) ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है। उन लोगों का कहना है कि योग के साथ ब्रह्म का कुछ भी संबंध नहीं है, अतः वेदान्तदर्शन का केवल तर्क पूर्ण ज्ञान (अर्थात्

तोते की न्याई इसका उच्चारण) ही मोक्ष का एकमात्र साधन है।

अति अल्प संख्या में और भी कुछ लोग हैं जिनका यह कहना है कि दर्शन विज्ञान के छः मूलग्रन्थ निःसन्देह छः स्वतन्त्र दर्शन हैं जो परस्पर विरोधी नहीं बल्कि ये एक ही लक्ष्य में पहुंचने के छः पृथक् पृथक् पथ होने के कारण एक दूसरे के सहायक ही हैं। यद्यपि ये लोग इस प्रकार के एक सिद्धांत का कथन ही करते हैं तथापि अपनी प्रतिज्ञानुसार यथायोग्य युक्ति दिखा कर अपने सिद्धांत को स्थापित नहीं कर सकते। इस कारण, उपरोक्त लड़ने वाले अद्वैती तथा द्वैती इन दोनों सांडों के मध्य खड़े होकर लड़ाई छुड़ाने के लिये उन लोगों की कोई भी पक्की भूमि नहीं है। हमारे आधुनिक गुरुओं की यही दयनीय अवस्था है। यथाविधि आचरण का अभाव ही वर्तमान गड़बड़ी का एक मात्र कारण है। किसी भी प्रकार की कोई वस्तु प्राप्त करनी हो तो अवश्य ही 'उद्देश्य', 'उपाय' तथा 'यथायोग्य प्रयत्न'— ये तीनों अतीव आवश्यक हैं। योगसूत्र ही एकमात्र ऐसी विद्या है जो दार्शनिक सीढ़ी के क्रमिक पदों के अनुकूल संबंध को दिखा कर उपरोक्त आधुनिक मतवाद तथा भ्रमपूर्ण समस्याओं का अन्त करती हुई नित्य सत्ता को प्रत्यक्ष कराने के लिये क्रमबद्ध उपाय की शिक्षा देती है।

वर्तमान विचारणीय विषय के लिये व्यास भगवान् ही हमारे एकमात्र प्रमाण के रूप में यथेष्ट हैं, क्योंकि, वे ही हमारे आधुनिक पिताओं के महान् पिता हैं। ये ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, अठारह पुराण तथा महाभारत के लेखक हैं। उनके येही मूलग्रन्थ सारे साम्प्रदायिकों की लड़ाई का सामान्य क्षेत्र हैं। जिन पर सारे सम्प्रदायी अपने लिये एकमात्र प्रमाण के रूप में दावा रखते हैं, वेही व्यास भगवान् इस योगसूत्र के भी भाष्यकार हैं और वही भाष्य आज शुद्ध अनुवाद के लिये उठाया जाता है।

अब यदि ये छः मूल ग्रन्थ परस्पर विरोधी हों तो धर्मसूत्र के लेखक भगवान् जैमिनी क्यों नहीं भगवान् व्यास की समालोचना करते? परम उज्वल मस्तिष्क वाले भगवान् जैमिनी प्राचीन काल के सब महर्षियों से भगवान् पदवी पाये हैं। यदि वे व्यास भगवान् के लिखित ग्रन्थों में कोई असंगति देखते तो बड़ी सरलता से उनके विरोध में खड़े हो सकते थे। इसीप्रकार, व्यास भगवान् भी योगसूत्र के अविकार को खंडन करने के बदले उसी पर भाष्य लिखते हैं। अतः दार्शनिक मूलग्रन्थ परस्पर विरोधी नहीं हैं बल्कि ये एक ही सीढ़ी के छः क्रमिक पद हैं। पुनः हम श्रुति, स्मृति, पुराण तथा इतिहास रूप वेदशास्त्रों के आधार पर भगवद्गीता की व्याख्या में इस विषय को पूर्णतया स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। यदि हम इस भाष्य के अर्थ को निरपेक्ष भाव से समझने की चेष्टा करें तो यह मेरा विश्वास है कि हम सब बिना किसी भी बाह्य सहायता के व्यास भगवान् के उस मूल उद्देश्य को निःसन्देह समझेंगे जिसे उन्होंने अपने लेख ब्रह्मसूत्र में रखा है।

भारत का यह क्रमबद्ध दर्शन-विज्ञान एक वह भंडार है जिसने जगत् के सारे राष्ट्रों को अध्यात्म आहार पहुंचाया (भारत का प्राचीन इतिहास देखो)। अन्य सब धर्मोपदेश, चाहे उन्हें कुछ भी महत्त्व दिया जाये, केवल मसाले व चटनियां ही हैं। उनकी उपयोगिता तब तक ही है जब तक कि यह दर्शन-विज्ञान मूल प्रेरणा को देता रहता है।

भारतभूमि पर तीर्थ-यात्रा करते समय मुझे जो कटु अनुभव मिला है, उसी ने मेरे अन्तःकरण को कठोर आघात पहुंचाया। मुझे दुःख से कहना पड़ता है कि भारतमाता आज प्राणशून्य है। वह अपनी ज्ञानोन्नति (सभ्यता) को पूर्णतया छोड़ कर अपनी हृदय-मणि को बिल्कुल ही खो बैठी है। यह अपनी जीवन-यात्रा की आरंभ तथा अन्तिम सीमा को सम्पूर्णतया भूल चुकी है। पाश्चात्य सभ्यता रूप तीव्र मदिरा में उन्मत्त होकर वह आज पाशविक प्रवृत्ति से चालित हो रही है। उसकी एकतानता, शांति, एकता, शक्ति, विभूति तथा तुष्टि ये सब नष्ट हो चुकी हैं। वह बहुत ही सम्प्रदायों में विभक्त हो गई है और फिर प्रत्येक सम्प्रदाय कई शाखा सम्प्रदायों में बांटे गये हैं। प्रत्येक शाखा सम्प्रदाय की कई मंडलियां हैं, प्रत्येक मंडली की बहुत ही शाखा मंडलियां हैं और फिर प्रत्येक शाखा मंडली के धर्म की ओट में साम्प्रदायिक दृष्टियों को सूचित करते हुए विशेष विशेष चिन्ह तथा काल्पनिक

धर्म-परायणता और श्रेष्ठता के भेदानुसार असंख्य विभाग हैं। आजकल बिना किसी विचार तथा बिना किसी आधार के व्यक्तिगत रुचि ही उसका धर्म बन गई है। आज उसके सर्वत्र नीच स्वार्थी तथा कपट साम्प्रदायिक गुरुओं ने अपना पूर्ण प्रभुत्व जमा लिया है। ये लोग मूर्ख जनता की आखों में धूलि डाल कर अपनी अपनी नीच स्वार्थ भावनाओं की पूर्ति के लिये दीक्षा-दान (धर्मशुद्धि) रूप एकमात्र छल भरे साधन द्वारा अपने अपने सम्प्रदायों को बढ़ाने में ही व्यस्त हैं। सरल-स्वभाव लोग उनकी उन मनोहारिणी बाणियों से ठगे जाते हैं जो अग्र-पश्चात् संबंध के बिना ही विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों तथा उपदेशों के नाना प्रकार के चित्ता-कर्षक अंशों की समष्टि हैं। उनमें से बहुत लोग साहस-पूर्वक यह घोषणा करते हैं कि जब वेदशास्त्र निःसन्देह गहन बन है तब साधारण लोगों के लिये एकमात्र अवलंबन यह है कि ये लोग उन्हें ही धर्म के मार्ग-दर्शक मान कर उन पर ही निर्भर रहें। वे लोग अपने तथा अपने गुरुओं के नाम पर कई नये नये ईश्वरों को सृजते हैं। ईश्वर के नाम पर हर तरह का पाप किया जाता है। तर्कविवाद न्याय-धर्म पर विजय प्राप्त कर लेता है। वही वकील अति प्रशंसा का पात्र है जो सत्यको झूठ तथा झूठ को सत्य में बदलता है। आज धोखाबाजी बुद्धिमत्ता का लक्षण है। मनुष्य कुत्ते व बिल्ली के साथ तो प्रेम रखता है, परन्तु कुलीनता तथा धर्मपरायणता की ओट में अपने स्वजातीय प्राणियों से घृणा करता है।

मेरी एकमात्र सान्त्वना केवल ईश्वर, वेदशास्त्र तथा व्यास भगवान् में ही है। कई हज़ारों वर्ष पूर्व व्यास भगवान् ने जो कुछ भी भविष्य वाणी की है, वह सारी आज फल रही है। यदि उस भविष्यवाणी के अनुसार भारतभूमि की आज दुर्दशा न होती, तो कोई भी उन्हें भगवान् कह कर न पुकारता। सभ्यता के ध्यान से भारत भूमि हृदय है, और दूसरे सारे देश उसी शरीर के अंग प्रत्यंग हैं। इसीलिये भारत का अधःपतन ही आज सारे जगत् के दुःख का कारण है। कलेजे के दुर्बल होने पर दूसरे अंग किस प्रकार पुष्ट हो सकते हैं? जिस सत्य का भारतभूमि ही एकमात्र भंडार है उसका बीज कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। यह भगवान् श्रीकृष्ण की आश्वास वाणी है कि साधुजनों के उद्धार तथा दुष्ट लोगों के नाश के लिये वे अवतार का रूप धारण करते हैं।

समय सदा ही परिवर्तनशील है, उठाना तथा गिराना उसके कर्म हैं। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि सर्वोच्च स्थान में उत्थान के पश्चात् भारत का पतन आज होना ही था। उस सत्य का बीज फिर इसकी उर्वरा भूमि में अंकुरित होगा। संभव है कि वर्तमान महायुद्ध उस बीज के अंकुर उगाने के लिये अनुकूल उद्बोधक-कारण बनेगा। साधारणतः परमेश्वर, महायुद्ध के पश्चात् ही शांति तथा समाजव्यवस्था को स्थापित करते हैं। यही उनका नियम है। भारतमाता फिर अपनी प्राचीन शोभा से सुशोभित होगी। वह पुनः अपनी सुगन्धि को चहुं ओर फैलायेगी।

पाठकगण! बिना किसी विचार के मेरा मत ग्रहण करने के लिये आज्ञा देने वाला आपका अध्यात्म गुरु मैं नहीं हूं, परन्तु एक निष्कपट कार्यकर्ता के रूप में आपसे यह अनुरोध करने का मेरा अधिकार है कि मुझ में बिना किसी शंका के अचल श्रद्धा आप न रखें, किन्तु आप अवश्य ही हमारे परम पिता महर्षियों पर पूर्ण श्रद्धालु रहें। साम्प्रदायिक गुरुओं के प्रचार से बद्धमूल पक्षपाती कल्पनाओं को मन से पूर्णतया त्याग कर आप विचारें कि कहां तक मैं इस समस्या के समाधान में समर्थ हूं। विचार-शक्ति पर परदा डालना ही पक्षपाती भावधाराओं का एकमात्र कर्म है और इसप्रकार की भावधारा ही हमारे महर्षियों के उपदेशों के परमतत्त्व तथा सौन्दर्य को अनुभव करने की आज्ञा नहीं देती।

अब आधुनिक तथाकथित गुरुओं के कथनानुसार हमारे प्रामाणिक मूल ग्रन्थों की सत्यता पर शंका उठती है। ये लोग अपनी बुद्धि की दुर्बलता को नहीं देख पाते, परन्तु शास्त्रों के दोषदर्शन में सदा ही तत्पर हैं। ये लोग अपने पक्षपात पूर्ण विचारों का समर्थन न करने वाले शास्त्रांशों को इस बहाने से हटाना चाहते हैं कि वे प्रक्षिप्त हैं। हम इन आक्षेपों को शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली गीता में विचार करने की चेष्टा करेंगे। उपस्थित प्रयोजन के लिये यह कहना ही पर्याप्त होगा कि जब शास्त्रों के उत्तम मस्तिष्क वाले प्राचीन व्याख्याकारगण उन क्षेपकांशों का पता नहीं लगा

सके बल्कि उन्हों ने उन पर भाष्य लिखा, तब आधुनिक गुरुओं की न्याईं साधारण लोगों के लिये यह कैसे संभव है कि ये उन अंशों को ग्रन्थकार के अतिरिक्त दूसरे पुरुषों द्वारा घुसाये हुए कह कर तिरस्कार कर सकें ? ऐसे दोषदर्शक शिक्षक नहीं, परन्तु वस्तुतः प्रवंचक ही हैं। अतः उनके उपदेश पर किसी को भी श्रद्धा नहीं रखनी चाहिये। अवश्य, मैं केवल उनके व्यक्तित्व का आदर करता हूं, परन्तु उनके उपदेशों का नहीं। भगवान् व्यास, बुद्धदेव के बहुत पहिले ही आविर्भूत हो कर श्रीमद्भागवत् में मूर्तिमान् भगवान् रूप में बुद्धदेव के अवतार होने की भविष्य वाणी करते हैं, किन्तु योगसूत्र के भाष्य में क्षणिक विज्ञानवाद तथा शून्यवाद को पूर्णतया खंडन करते हैं। ये दोनों वाद बुद्धदेव द्वारा चलाये हुए कहलाते हैं, क्योंकि बहु प्राचीन काल से रहते हुए भी वे सिद्धांत निराधार तथा वेदविरुद्ध हैं। अवश्य, मैं यह नहीं कह सकता कि स्वयं बुद्धदेव ने उन सिद्धांतों का समर्थन किया था। ये सिद्धांत उनके पश्चात् आये हुए नीच स्वार्थी गुरुओं द्वारा ही उनके नाम पर चलाये गये थे। इसीप्रकार, भविष्य में जागने वाले सिद्धांतों सहित सारे विरुद्ध मतवादों को हमारे महर्षियों ने उठाया है और ये सब निराधार, हानिकारक तथा वेदविरुद्ध होने से उन्हों ने सब का खंडन करके रखा है। अतः आधुनिक प्रवंचकों के विरोधी सिद्धांतों को खंडन करने के लिये हमें अधिकार है, चाहे वे लोग मूर्ख जनता द्वारा कितने ही उच्च क्यों न माने जायें।

ब्रह्मसूत्र के संबंध में योगसूत्र को भली प्रकार समझने के लिये मैं यहां कुछ सूचना देतां हूं। उदाहरणार्थ— बिजली एक ही है, परन्तु कर्मभूमि में इसके 'सम' और 'विषम' नामक दो प्रवाह माने जाते हैं। इसी तरह इस योगसूत्र का विज्ञान कर्मभूमि का वर्णन करता है। यह कर्म केवल शक्ति का ही व्यापार है, परन्तु यह शुद्ध तत्त्व 'वस्तु' (ब्रह्म) में कदापि नहीं रह सकता। तदनुसार, 'नित्य सत्ता' एक होने पर भी शक्ति के दो विभाग रखता हुआ माना जाता है। विषम शक्ति (सक्रिय) 'प्रधान' और समशक्ति निष्क्रिय 'पुरुष' है। इसीकारण, इस शास्त्र में कहीं भी 'पुरुष' के स्थान में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हम नहीं देखते हैं। 'उद्देश्य' स्वयं 'उपाय' नहीं है तथा न ही 'उपाय' 'उद्देश्य' है, परन्तु ये दोनों कार्य-कारण संबंध को रखते हैं। इसी तरह, योग उपाय है और 'पुरुष-ख्याति' (अर्थात् चेतन सत्ता को जड़सत्ता से पृथक् करना) 'उद्देश्य' है। इन दोनों का भी कार्य-कारण संबंध है। यह शास्त्र 'पुरुष-ख्याति' में ही समाप्त होता है। आगे, इसी फल पर खड़े हो कर ब्रह्मसूत्र 'वस्तु' का शुद्ध स्वरूप दिखाने के लिये आरंभ होता है। उस ब्रह्मसूत्र में 'पुरुष' को ब्रह्म माना जायेगा तथा वह ब्रह्म दो विभागों में विभक्त होगा यथा सगुण (सोपाधिक) व निर्गुण (निरुपाधिक)। सगुण ब्रह्म 'उद्देश्य' के रूप में योग के साथ संबंधित है और निर्गुण ब्रह्म स्वतन्त्र, शुद्ध तथा उत्पत्ति विनाश से निर्लिप्त है। इस संबंध में, इस मौलिक सत्य को स्मरण रखना है कि सगुण ब्रह्म की पूर्ण प्राप्ति के बिना निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त नहीं किया जा सकता। योग्य स्थलों में यह स्पष्ट किया जायेगा कि इस शास्त्र में 'पुरुष' बहु क्यों हैं !

जहां भी मैं 'वेदान्त दर्शन' शब्द का नामोल्लेख करूंगा, वहां ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य को सूचना का विषय समझना होगा। पुनः दार्शनिक मूलग्रन्थों को सुगमता पूर्वक समझने के लिये पाठकों से अनुरोध किया जाता है कि वे इस ग्रन्थ के अंत में दिये गये शब्दकोष्ठक के साथ शब्दों के संबंध को देखते रहें।

न ही मुझे अंगरेजी भाषा का उपयुक्त ज्ञान है और न ही यह भाषा मुझे प्रिय है। मैं थोड़ी बंगला भाषा जानता हूं, किन्तु यदि मैं बंगला में इस ग्रन्थ का अनुवाद करूं तो बंगाल के बाहर यह किसी भी प्रयोजन में नहीं आयेगा। इसलिये, मैं अंगरेज़ी में अनुवाद करने के लिये बाध्य हुआ हूं। योगसूत्र के बहुत संस्करण प्रचलित होने पर भी मैं कहीं भी व्यास भाष्य का यथार्थ अनुवाद नहीं देखता हूं। मैं ने मूल भाष्य का मूलार्थक अनुवाद तथा जटिल अंशों को टिप्पणी द्वारा स्पष्ट करने के लिये यथासाध्य चेष्टा की है। यदि कोई पाठक कहीं भी असामञ्जस्य तथा अनुवाद में भूल देखें तो अगले संस्करण में आवश्यकीय संशोधन के लिये प्रकाशक के साथ पत्र-व्यवहार करें। यह देखकर मुझे अधिकतर आनन्द होगा।

: भारतवर्ष में विभिन्न तीर्थस्थानों का भ्रमण समाप्त होने पर पूना शहर के एरावदा टेकरी पर श्रीपंच जूना अखाड़ा के महात्मा अयोध्या भारती जी द्वारा स्थापित दत्त-मंदिर में कुछ काल वास करने का मुझे अवसर मिला। मैं ने योगसूत्र का अनुवाद वहां ही किया। उस निवास-काल में स्वामी जी से मुझे जो सत्कार मिला, उसके लिये मैं उनके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हूं। इस ग्रन्थ की तैयारी में समयोपयोगी सहायता तथा एरावदा में मेरी सुख-सुविधा के प्रति ध्यान रखने के कारण निम्नलिखित भद्रपुरुषों के प्रति समादर सहित मेरा आन्तरिक धन्यवाद है:— बाबू रामसिंह चौहान (युक्तप्रांत के रामभरोसा व्यवसायी), जमादार बाबू फ़ज़ल रहमान (युक्तप्रांत), हवालदार बाबु नौहरियाराम शर्मा (होशियारपुर, पंजाब), नायक बाबु कृपालसिंह (लुधियाना, पंजाब), नायक बापु शेळके (महाराष्ट्र)। ये सब पूना शहर में किरकी के फौज़ी कर्मचारी हैं। कृपाल बाबु, योगसूत्र के मेरे सर्व प्रथम छात्र हैं, अतः उन्हें अपना आन्तरिक प्रेम तथा हार्दिक शुभेच्छा जनाये बिना मैं इस भूमिका का उपसंहार नहीं कर सकता हूं।

पूना
१ सितम्बर १९४१. } बंगाली बाबा

प्राक्कथन

मनुष्य क्या है? क्या यह शरीर, या मन, या चैतन्य या इन सब से परे कोई वस्तु है? फिर मन क्या है? क्या यह चैतन्य सत्ता का परिणाम है या जड़ सत्ता का? ईश्वर क्या है? क्या वह सक्रिय या निष्क्रिय है? ईश्वर के साथ मन का क्या संबंध है? मन की उत्पत्ति कहां से होती है और इसके क्या क्या व्यापार हैं? ये सब शंकायें स्वभावतः ही एक विचार-शील पुरुष को होती हैं। दार्शनिक पंडितों ने अपनी अपनी विचारशक्ति के अनुसार अपने अपने मतवाद की विशद् व्याख्या द्वारा उन सब प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा की है। उनकी व्यक्तिगत मनोकल्पना परस्पर सहायकारी न होती हुई एक दूसरे की विरोधी ही होकर विभिन्न सिद्धांतों का रूप धारण करती है। इससे बुद्धिवादिता का घोर अंधकार तथा साम्प्रदायिकता रूप मदिरा का तीव्र नशा दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। अतः ये सब अध्यात्म-प्रसाद के लिये अभिलाषा उत्पन्न करने में सम्पूर्णतया विरोधी ही हैं।

कई लोग यह आक्षेप उठाते हैं कि भारत भूमि का कोई भी अपना दर्शन (फ़िलासफ़ी) नहीं, परन्तु निरन्तर लड़ाई का एकमात्र आधार रूप केवल धर्म (Religion) ही है। यहां हम यह नहीं समझ पाते कि वे लोग धर्म और दर्शन के मध्य भेद के विषय में क्या विचार रखते हैं। साधारणतः लोग अंगरेज़ी रिलिजन (Religion) शब्द का प्रयोग संस्कृत भाषा के ‘ धर्म ’ शब्द के अर्थ में करते हैं जिस ‘ धर्म ’ शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ यह है कि जो ‘ तत्त्व ’ समग्र जगत् को धारण करता है तथा जिस ‘ उपाय ’ को अवलंबन करके उस ‘ तत्त्व ’ में पहुंचा जाता है (ये दोनों ही धर्म हैं)। परन्तु वास्तव में, रिलिजन (Religion) शब्द ‘ धर्म ’ के शेषोक्त अर्थ को ही सूचित करता है। लोग फ़िलासफ़ी (Philosophy) शब्द को संस्कृत ‘ दर्शन ’ शब्द के स्थान में व्यवहार करते हैं। अतः यह स्पष्ट होता है कि कहने के लिये रिलिजन (Religion) शब्द क्रमबद्ध क्रिया-विधि को सूचित करता हुआ उसी ‘ योग ’ के साथ समानता रखता है जो ‘ योग ’ सब प्रकार के संशयों का नाश करा कर परमतत्त्व के साथ ‘ मीलन ’ का साक्षात् दर्शन करने में मनुष्य को योग्य बनाता है। दूसरे शब्दों में, ‘ रिलिजन ’ (Religion) ईश्वर के साथ साक्षात् मीलन अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा

को जोड़ने के उपाय को दिखाता है। संस्कृत भाषा में इस 'मीलन्' को दर्शन तथा दूसरी भाषा अंगरेजी में फ़िलासफ़ी कहते हैं। इसी कारण, 'धर्म' नामक 'उपाय' का उद्देश्य रूप 'दर्शन' शब्द में सूचित किये गये संस्कृत भाषा के भाव को प्रकाश करने में अंगरेजी फ़िलासफ़ी शब्द असमर्थ है। अर्थात् विशद् अर्थ में 'धर्म' (Religion) ही 'दर्शन' (Philosophy) के लिये 'उपाय' है। उस रिलिजन (धर्म) को कभी भी 'धर्म' (उपाय) नहीं कहा जा सकता जो कि इस 'दर्शन' (Philosophy) से शून्य है तथा सच्चा 'दर्शन' (Philosophy) 'धर्म' (Religion) के बिना कभी भी नहीं ठहर सकता। अतः रिलिजन (धर्म) व फ़िलासफ़ी (दर्शन) ये दोनों 'उपाय' और 'उपेय' (उद्देश्य) के संबंध में जुड़े हुए हैं।

वास्तव में, एकमात्र भारतीय दर्शन-विज्ञान ही जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के साथ सच्चे नियम व कर्त्तव्य को दिखाता हुआ मानवीय जीवन की समस्याओं को विधिबद्ध करने की शक्ति रखता है। तदनुसार, यह दर्शन-क्रम जीवन-समस्याओं का पूर्ण समाधान तथा अनन्त सुख और परमानंद की प्राप्ति के लिये बहुत सी प्रयत्नसाध्य एक विशाल वैज्ञानिक प्रणाली को धारण करता है। वर्तमान समय में अपनी वैदिक संस्कृति का नाश होने से भारतभूमि आज एक बड़ी गड़बड़ी में धकेली गयी है। उसका लक्ष्य उलट गया है। किन्तु इतनी कठिनाई का सामना करती हुई भी यह अपने आध्यात्मिक जीवन के झुकाव को भूल नहीं सकी। इसी कारण ही ईश्वर और धर्म (Religion) आज नीच स्वार्थ सिद्धि के उद्देश्य पूरणार्थ एक प्रकार के यन्त्र के रूप में लिये जाते हैं। 'योग' द्वारा प्राप्त हुए विमल आनन्द पूर्ण जीवनयात्रा के बल से भारत एक दिन सब देशों से श्रेष्ठ तथा बलवान् था किन्तु आज उसी योग को एक प्रकार के अस्वाभाविक शारीरिक व्यायाम-कौशल अर्थात् गुदा के रास्ते से पानी पीना और मुख के द्वार से पेट साफ़ करना इत्यादि के रूप में माना जाता है। वास्तव में, 'वस्तु-तत्त्व' को स्थापित करके, सृष्टि की उत्पत्ति व लय परिणाम के साथ क्षणभंगुर संसारजीवन के रंगरूप का वर्णन करता हुआ 'योग' ही सब जीवन-समस्याओं का समाधान करता है।

योग, कर्म के दो विभागों को दिखाता है यथा बाह्य और अध्यात्म। विषय-भोगेच्छा नामक चित्त की स्थूलमल की शुद्धि के साधन रूप शरीर की सहायता से जो कर्म किये जाते हैं, वे बाह्य कहलाते हैं और ईश्वर-साक्षात्कार की इच्छा नामक चित्त की सूक्ष्म मल-शुद्धि का साधन रूप एकमात्र चित्ताधीन कर्म को अध्यात्मकर्म कहा जाता है। पुनः चित्त के दो संस्कार हैं यथा व्युत्थान (बहिर्मुखी) और निरोध (अन्तर्मुखी)। व्युत्थान संस्कार विभिन्न जाति (योनि), आयु तथा भोग (सुख-दुःख) में क्लेश और इनके विपाक *(फल-निष्पत्ति) के साथ चित्त को बांधता है और निरोधसंस्कार उक्त क्लेशकर्म आदि के बन्धन को शिथिल करता है तथा संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि उत्पन्न करता है। पाठकों की सुविधा के लिये यहां हम सम्पूर्ण ग्रन्थ का एक संक्षिप्त विवरण देते हैं।

योगसूत्र का प्रथम अध्याय, चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियों के निरोधार्थ अध्यात्मकर्म की श्रेणी से संबंध रखता है और चित्त की भूमियों की संख्या तथा इसकी बहिर्मुखी वृत्तियों के भेद का वर्णन करता हुआ समाधि-प्रज्ञा के उन क्रमबद्ध चार पदों के निरोधसंस्कार की व्याख्या करता है जिन्हें पारिभाषिक शब्दों में संप्रज्ञात समाधि की स्थूल, सूक्ष्म, करणग्राह्य और अहं-ग्राह्य प्रज्ञा कहा जाता है।

दूसरा अध्याय,- 'क्लेश' नाम से कथित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश रूप चित्त की स्थूल मल को दुर्बल बनाने के लिये बाह्यकर्म के नियम से संबंध रखता है। येही क्लेश मनुष्य के सांसारिक जीवन में सुख दुःख का कारण होते हैं तथा पुनर्जन्म के चक्र में चैतन्य सत्ता को कर्म और इसके फलभोग के क्रम के साथ प्रतिबिंबित रूप में बांधने वाले कर्माशय के 'मूल' कहे गये हैं। संचित कर्मसंस्कार तथा जीव का जन्मांतर ग्रहण भारतीय दर्शनविज्ञान का एक विशेष महत्त्व है। इन सब कठिन प्रश्नों का सम्पूर्ण समाधान इस ग्रन्थ में किया गया है। 'हेय' (संसारजीवन), 'हेयहेतु' (संसारजीवन का कारण), 'हानम्' (मोक्ष) तथा 'हानोपाय' (मोक्ष का उपाय)-इन सब की

* 'विपाक' (फलनिष्पत्ति) शब्द फल को उत्पन्न करना व फल को भोगना इन दोनों का द्योतक है।

वैज्ञानिक व्याख्या दी गई है और उस व्याख्या के साथ अन्तर्निहित आदिशक्ति (प्रकृति) के सृष्टिक्रम परिणाम का विशद् वर्णन करते हुए आठ योगाङ्ग के क्रमिक अनुष्ठान की विधि दिखा कर (लयक्रम में जाने के लिये) 'उद्बोधक कारण' (निमित्त) के महत्त्व को स्थापित किया गया है।

तीसरा अध्याय, पारिभाषिक शब्द में 'संयम' नामक तीन अंतरंग योगाङ्ग के रूप में अध्यात्मकर्म द्वारा संसारजीवन के लय-परिणाम का वर्णन करता है तथा वहां योगाभ्यास द्वारा प्राप्त की जाने वाली शक्ति-सिद्धियों को यथाक्रम संयम की विधि के साथ दिखाया गया है।

चौथा अध्याय यह वर्णन करता है कि एकजीव नामक (सक्रिय) ईश्वर नियामक कारण के रूप में एक होता हुआ भी कैसे बहु रूप धारण करता है तथा कैसे फिर यह व्यक्तिगत जीवभाव उद्बोधक (निमित्त) कारण रूप क्रमबद्ध क्रियाविधि के अवलंबन द्वारा सृष्टि-कोटि के पार जा कर ईश्वर-कोटि में कैवल्य मुक्ति को प्राप्त करता है। पुनः यह विज्ञान त्रिकाल में संभव होने वाले सारे वेदविरुद्ध सिद्धांतों के खंडन द्वारा शुद्ध तत्त्व 'वस्तु' के अस्तित्व को स्थापित करता हुआ क्रियमाण, संचित तथा प्रारब्ध रूप तीन स्थिति में रहने वाली कर्मगति का वर्णन करता है।

यहां एक प्रश्न उठता है। कईयों का कहना है कि वे वैदिक प्रमाण को सर्वश्रेष्ठ क्यों मानें? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि वेद किसी देशविशेष अथवा राष्ट्रविशेष की सम्पत्ति नहीं हैं, अपितु ये समग्र मनुष्य-जाति के धर्म की व्यवस्था देते हैं। वेद किसी मरणशील प्राणी द्वारा नहीं बनाये गये। ये ईश्वर की परमशक्ति के सहवर्ती हैं। उदाहरणार्थ— जब एक बालक को व्याघ्र शब्द सुनाया जाता है तो चीते का आविर्भाव उसके पास शब्द के रूप में होता है। जब वही बालक अपने शिक्षक द्वारा दिये हुए प्रबंध को पढ़ कर व्याघ्र के आकार व स्वभाव को जान लेता है, तब चीता उसके पास 'ज्ञान' के रूप में उपस्थित होता है। फिर जब वही बालक शिक्षक के निर्देशानुसार चिड़ियाघर में जाता है तब व्याघ्र उसके पास 'अर्थ' रूप में भासता है। इन तीनों (शब्द, ज्ञान व अर्थ) को दूसरे शब्दों में 'प्रमाण' (सत्यज्ञान) के उपाय रूप आगम, अनुमान व प्रत्यक्ष नाम दिया गया है। इसीतरह, वेदों द्वारा ईश्वर 'शब्द' रूप में प्रकट होते हैं। महर्षियों द्वारा रचित वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से वही ईश्वर 'ज्ञान' रूप में भासते हैं और फिर शास्त्र-विहित विधिव्यवस्था के पूर्ण वश होकर जब क्रमबद्ध क्रियाविधि का यथारीति पालन किया जाता है, तब ईश्वर 'अर्थ' अर्थात् 'वस्तु' रूप में आविर्भूत होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वेद परमेश्वर के आदिवचन हैं तथा किसी भी मरणशील प्राणी द्वारा नहीं बनाये गये हैं। इसीलिये, ये ईश्वरीय हैं। माहेश व्याकरण का ज्ञान पूर्णतया प्राप्त करके ही वेदों की भाषा समझी जाती है। तत्कारण, इस भाषा को देवभाषा कहते हैं। शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष— ये छः वेदांग हैं। वेद, तत्त्व को अति संक्षेपपूर्वक बीज रूप में निर्देश करते हैं। हमारे महर्षियों ने पुराण और इतिहास की सहायता से हमें उसी तत्त्व की विशद् व्याख्या देकर उसी का ही विस्तार किया है। पुनः उन्हों ने स्मृतियों में विधि तथा कर्म की व्यवस्था दी है जिनके पालन द्वारा हम सुगमता से उस 'तत्त्व' को प्राप्त कर सकते हैं। और दर्शन-विज्ञान के ग्रन्थ पीठ की रीढ़ की तरह उन सब की एकतानता दिखाते हुए सब को एक शरीर-व्यूह के आकार में धारण करते हैं। इस प्रकार, महर्षिजन वैदिक भाषा पर कुछ परिवर्तन ला कर वैदिक तत्त्व को सरल भाव में वर्णन करते हैं। इसलिये पुराण, स्मृति तथा इतिहास को वेदशास्त्र के अन्तर्गत माना जाता है। और उनकी भाषा को संस्कृत अर्थात् सुहावनी वाणी अथवा आर्य भाषा कहते हैं।

परमेश्वर सर्वप्रथम संकल्प-शक्ति द्वारा सात महर्षि, चौदह मनु और चार कुमारों को सृजते हैं। तदनन्तर ये मनु आदि महर्षिजन यज्ञ में मन्त्र बल से प्रजा उत्पन्न करते हैं। सर्वशेष सारे सांसारिक जीवों में मैथुनी सृष्टि आरंभ होती है (भ. गी. १०।६)। पुनः हम देखते हैं कि यदि किसी मनुष्य को जन्म से ही मानव-समाज के बाहर रखा जाये तो वह कोई भी भाषा नहीं सीखता, परन्तु दूसरी ओर वह गूंगा बन जाता है। इसके विपरीत, यदि उसे किसी भी भाषा व किसी भी विज्ञान में सुशिक्षित किया जाये तो वह

दूसरी भाषा की रचना अथवा दूसरे विज्ञान का आविष्कार सुगमता से कर सकता है। अन्वेषण-विभाग के सारे विद्वान् इस सिद्धांत पर सहमत हैं कि वेदशास्त्र ही पृथ्वी के सर्व प्रथम ग्रन्थ हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषा अन्य सारी भाषाओं का मूल है और वेद ही जगत् के सारे राष्ट्रों का ज्ञानभंडार हैं। तदनुसार वेदशास्त्र ही प्रत्येक मनुष्य के लिये आदरणीय तथा आलिंगनीय हैं।

जो ऐसा कहें कि संसार सदा ही सुप्तावस्था से जागृति (क्रमविकास) की ओर बढ़ रहा है, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर को जगत् कारण मानना निष्प्रयोजन है तथा पुत्र एकमात्र पिता का ही क्रमविकास है तो उनके पक्ष में जरा-मृत्यु का आक्रमण जगत् में नहीं रहना चाहिये। और भी पिता का पिता, इसका पिता, इसका भी पिता इत्यादि अतिप्रसंग (हिसाब के बाहर विस्तार) आ जाता है। अतः उनके लिये सब ही अन्धकारमय है।

योगविज्ञान उक्त समस्या का इस सिद्धांत में समाधान करता है कि सूक्ष्म जगत् कारण,—स्थिति और गति को लेकर अतीत, वर्तमान और भविष्य धर्म-परिणाम में, धर्मों के लक्षण-परिणाम में तथा लक्षणों की अवस्था-परिणाम में काम करता है (यो. सू. ४।१२, ३३; ३-१३-१५)।

अध्यात्मविद्या इतनी सुगम नहीं है कि एकमात्र पुस्तक अध्ययन से ही समझ में आ जायेगी। इसलिये, पाठकों से निवेदन किया जाता है कि विज्ञान में पूर्ण ध्यान और दीर्घ प्रयत्न के साथ इस लेखक की पुस्तकों को पढ़ें। लेखक ने उस कड़ी का आविष्कार किया है जो कई हजारों वर्षों से लुप्त थी। यद्यपि यह विज्ञान कोई एक नयी वस्तु नहीं है, तथापि धर्म और दर्शन की यथाक्रम विधि को दिखा कर लुप्त सन्धि के आविष्कार करने के कारण समग्र जगत् के लिये यह विज्ञान एक सम्पूर्ण नयी वस्तु दीख पड़ेगी। लेखक ने श्रीमद्-भगवद्गीता पर जो काम किया है, वह निःसन्देह मौलिक तथा अति विलक्षण है। हमारी लेखनी उस सुन्दरता को वर्णन करने की शक्ति नहीं रखती। इसका अनुभव पुस्तक पढ़ कर ही होगा। संक्षेपतः उनकी विचारधारा अतुलनीय है और संभवतः वर्तमान में प्रचलित जितनी भी व्याख्याएं देखने में आती हैं, उन सब को अतिक्रम कर गई है। साम्प्रदायिक गुरुओं द्वारा सूजी हुई वर्तमान गड़बड़ी के संबंध में लेखक ने सारे मतवादों को उठाया है तथा वेदशास्त्रों के आधार पर सब समस्याओं का पूर्णतया समाधान किया है। अतः यह प्रमाणित वाक्य है कि सूर्योदय पूर्व गगन से ही होता है।

करांची
ता॰ २८ जुलाई १९४३.

कुमारी बृजरानी देवी
एम. ए.
श्यामसुन्दर मुल्खराज पुरी
बी. ए., एलएल. बी.
एडवोकेट.

सूचना

प्रथम अध्याय के नवम सूत्र में **ज्ञानयोग** तथा **भक्तियोग** की अर्थ संबंधीय टिप्पणी के विषय में कई मित्रों से संकेत पा कर मैं अपने प्रामाणिक शास्त्रों में उक्त शब्दों का योग्य प्रयोग दिखा कर उक्त दोनों शब्दों की व्याख्या विशद् रूप में देना चाहता हूं। साधारण लोग भ्रमवश यह मत पोषण करते हैं कि भक्ति भगवान् के प्रति एक आवेगपूर्ण प्रेम है जो अपने अपने साम्प्रदायिक भगवान् के गुणगान में धक्का-धक्की, उल्टना-पुल्टना, कूदना-फांदना, चिल्लाना-पुकारना तथा रोने-पीटने द्वारा मानसिक शक्ति की थकावट से तथा विचारशून्य भाव से उत्पन्न होता है। ये लोग इस धारणा से चालित होते हैं कि 'भक्ति-शास्त्र' वह 'प्रेमदर्शन' है जिसका भारतीय दर्शन-विज्ञान के छः मूल ग्रन्थों के साथ कुछ भी संबंध नहीं है तथा यह भक्ति-शास्त्र उन सब से बल्कि वेदाधिकार से भी सम्पूर्ण पृथक् तथा भिन्न है। ये लोग यह

मानते हैं कि शास्त्रविहित सामाजिक तथा धार्मिक सब कर्त्तव्यों का तिरस्कार करके अधिकन्तु मनुष्य-जीवन के नैतिक बन्धनों को भी जलाञ्जलि दे कर भगवान् का प्रिय बनने के लिये भक्ति ही एक सब से अधिक सुगम पथ है। ये लोग यथेच्छाचारी बन कर किसी भी विचारपूर्ण तथा युक्तियुक्त प्रामाणिक सिद्धांतों पर ध्यान न देते हुए अपने मत में ही हठपूर्वक लगे रहते हैं। भक्ति को एक स्त्री मानते हुए उनमें से कितने ही लोग आकार-प्रकार में पुरुष होते हुए भी स्त्री के वस्त्र व आभूषण पहिनते हुए अपने मनोकल्पित भगवान् का प्रिय बनने के लिये पुरुषोचित नैतिक चरित्र को विदा दे कर स्त्रियों के साथ ही सदा अपना संसर्ग रखते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि मनोबल के संकोचन तथा दबाव से उत्पन्न हुए मन के विवेकहीन भाव तथा कर्मशून्य अवस्था को ही लोग भक्ति मानते हैं। परन्तु वास्तव में, 'भज्' धातु का अर्थ 'सेवा करना' है जो उद्यमशील मन द्वारा संपादन करने योग्य कर्म के एक विशेष स्वरूप को स्पष्टतः दिखाता है।

योगसूत्र ४।१० के व्यास-भाष्य के आधारपर हम कह सकते हैं कि यद्यपि 'भज्' धातु 'सेवा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तथापि यह शब्द ईश्वर के प्रति किसी बाह्य सेवा को कभी भी नहीं दिखाता, परन्तु एकमात्र चित्तद्वारा सौंपने योग्य सेवा को ही सूचित करता है; क्योंकि भगवद्गीता में सर्वत्र हम देखते हैं कि बाह्यकर्म के अर्थ में 'यज्' धातु का प्रयोग और धारणा, ध्यान व समाधि नामक योग के अन्तिम तीन अंग को सूचित करता हुआ 'ज्ञानयज्ञ' शब्द में कथित अध्यात्म कर्म के अर्थ में 'भज्' धातु का प्रयोग हुआ है। भगवद्गीता की व्याख्या में इस विषय का पूर्णतया विचार किया गया है। अतः उक्त दोनों शब्दों के संबंध में विभिन्नता वा परस्पर विरुद्धता विषयक किसी भी धारणा के पोषणार्थ हमें कोई भी अवसर नहीं है, क्योंकि उक्त दो शब्द एकमात्र बाहरी रूप में ही भिन्न हैं, परन्तु केवलमात्र चित्त की ही सहायता से संपादन किये जाने वाले अध्यात्मकर्म* को दिखाते हुए एक ही अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

परब्रह्म की प्राप्ति के लिये हमारे महर्षियोंने निःसन्देह समग्र क्रमबद्ध क्रियाविधि (योग) को तीन अंशों में विभक्त किया है। योगपूर्ति के लिये शरीर की सहायता से संपादन करने योग्य द्रव्य-यज्ञ नामक कर्मभूमि के प्रथमांश को **धर्मसूत्र** दिखाता है। इस योग की पूर्ति ही सांसारिक पदार्थों से वैराग्य उत्पन्न करा कर योगी को महाव्रत (संन्यास) की श्रेणी में ज्ञान-यज्ञ (अध्यात्मकर्म) का आश्रय लेने के लिये योग्य बनाती है। इसलिये, धर्मसूत्र बाह्य यज्ञविद्या संबंधीय **शब्द ब्रह्म** का वर्णन करता है। तत्पश्चात् सांख्य-योग सृष्टिकर्ता ईश्वर के साथ साक्षात् मीलनार्थ एकमात्र चित्त की ही सहायता से संपादन करने योग्य ज्ञान-यज्ञ अर्थात् भक्ति-योग नामक दूसरे अंश को दिखाता है। ईश्वर के साथ यह मीलन ही मोक्ष ला कर क्लेश और कर्म के बन्धन को काट देता है। इसीकारण ही प्रज्ञादृष्टि को सूचित करता हुआ 'दृश्' धातु भगवद्गीता के उन श्लोकों में प्रयुक्त हुआ है जो श्लोक संप्रज्ञात-समाधि के अन्तर्गत ज्ञानयज्ञ के इष्ट फल के साथ संबंध रखते हैं। इसलिये, **योगसूत्र** भक्ति-विज्ञान संबंधीय **ध्येय ब्रह्म** का वर्णन करता है। अन्त में ब्रह्मसूत्र ब्रह्म-निर्वाण के स्वरूप का वर्णन करता हुआ इस क्रमिक सोपान युक्त क्रियाविधि के अन्तिम अंश को दिखाता है और किसी भी प्रकार के कर्मसंपादन की व्यवस्था नहीं देता, परन्तु कर्मभूमि के पार जा कर सब कर्म की निवृत्ति रूप उक्त ब्रह्मनिर्वाण स्थिति को प्राप्त करने के लिये **पर वैराग्य** का विधान देता है। एतदर्थ, **ब्रह्मसूत्र** जीवात्मा की परम पूर्णता संबंधीय **ज्ञेय ब्रह्म** का वर्णन करता है। इस कारण ही हम देखते हैं कि 'विद्' अथवा 'ज्ञा' धातु गीता के उन श्लोकों में प्रयुक्त हुआ है जो श्लोक ब्रह्मसूत्र के विषय के साथ संबंधित माने जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भक्ति-शास्त्र का अभिप्राय ऐसे किसी भी सातवें दर्शन से नहीं है जो शब्दकोष्ठक में सूचित किये गये दर्शन-विज्ञान के विरोधी अथवा उन से पृथक् हो, परन्तु महाव्रत (संन्यास) की आरंभ तथा अन्तिम सीमा को दिखाता हुआ ज्ञान-यज्ञ (अध्यात्म कर्म) की विद्या को ही सूचित करता है।

कपूरथला
२० नवम्बर १९४३ } **बंगाली बाबा**

— बंगाली बाबा-कृत पुस्तकें —

पातञ्जल योगसूत्र

English (a Few in Stock) Rs. 5/-

हिन्दी संस्करण. मूल्य पाँच रुपया.

श्रीमद्भगवद्गीता

English (a Few in Stock)

हिन्दी संस्करण. मूल्य पाँच रुपया.

प्राप्ति-स्थान

श्रीमान् देशराज कपूर

एडवोकेट

कपूरथला (स्टेट) पंजाब.

पुस्तकों के संबंध में आवश्यकीय वार्ता अवगत होने के अर्थ उल्लिखित महोदय से डाकव्यय सहित पत्रव्यवहार करें।

पातञ्जल-योगसूत्रम्

पहिला अध्याय

समाधि पाद

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

मूलार्थ— अब यह योग का अन्तिम उपदेश है।

यस्त्यक्त्वा रूपमाद्यं प्रभवति जगतोऽनेकधानुग्रहाय।
प्रक्षीणक्लेशराशिर्विषमविषधरोऽनेकवक्त्रः सुभोगी॥
सर्वज्ञानप्रसूतिर्भुजगपरिकरः प्रीतये यस्य नित्यम्।
देवोऽहीशः स वोऽव्यात्सितविमलतनुर्योगदो योगयुक्तः॥ १ ॥

अथ योगानुशासनम्। अथेत्ययमधिकारार्थः। योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। योगः समाधिः। स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।

'अथ' (अब) शब्द का प्रयोग लाभ करने के अर्थ में हुआ है (क)। 'योग के अन्तिम उपदेश' से यह समझना है कि योगविद्या का प्रथमांश प्राप्त हो चुका है (ख)। योग (का अन्तिम फल) समाधि है। यह चित्त का वह धर्म है जो इसकी सारी भूमियों में व्याप्त है (ग)। (१) क्षिप्त (चंचल), (२) मूढ़ (बेहोश), (३) विक्षिप्त (डोलायमान), (४) एकाग्र व (५) निरोध— ये पांच चित्त की भूमियां हैं।

टिः सू. १ यहां यह समझना है कि 'योग' शब्द बाह्यकर्म की आरंभ सीमा से लेकर समाधिप्रज्ञा के अन्त तक समग्र कर्मभूमि को सूचित करता है। भोगपूरणार्थ धर्मसूत्र योगसूत्र का पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। अतः सूत्र में 'अब' (अथ) शब्द का प्रयोग अध्यात्मकर्म का आश्रय लेने की योग्यता की श्रेणी को दिखाने के उद्देश्य से ही हुआ है। दूसरे शब्दों में, धर्मसूत्र विहित कर्त्तव्यों का संपादन अर्थात् भोग की पूर्ति ही चित्त को मुक्ति के अर्थ समाधि की ओर जाने के लिये योग्य बनाता है।

(क) पाठकों से निवेदन है कि जो दर्शनशास्त्र में पूर्ण ज्ञान नहीं रखते, वे दूसरे अध्याय से आरंभ करें। यदि वे तीसरे अध्याय के पन्द्रहवें सूत्र तक समाप्त करके इस अध्याय को पढ़ें तो उनके लिये यह विषय समझना अति सुगम हो जायेगा। (ख) इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् पतञ्जलि योग के कर्ता नहीं हैं। इसे सृष्टिकर्त्ता ने बनाया है। पतञ्जलि भगवान् ने इसे केवल क्रमबद्ध विधि में ही स्पष्ट किया है। (ग)

तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्कर्म-बन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्यु-परिष्टान्निवेदयिष्यामः। सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्र-ज्ञातः समाधिः ॥ १ ॥

उस विक्षिप्त चित्त (घ) में चित्त की वृत्ति (मग्नावस्था) एक विशेष नियुक्ति में रहने के कारण योग पक्ष में नहीं आती। दूसरी ओर, एकाग्रचित्त में चित्त की वृत्ति (समाधि) सत्य तत्त्व को प्रकाशित करती है, क्लेशों का नाश करती है, कर्म-बंधन को ढीला बनाती है और निरोध को उत्पन्न करने वाली होती है। इसी को ही संप्रज्ञात (निरोधमुखी वृत्ति सहित) समाधि कहा जाता है। और भी, यह वितर्क (मान लेना), विचार (स्वच्छ दृष्टि), आनन्द और अस्मिता (शुद्ध मैंपन) के साथ मिली हुई होती है। इन सब का वर्णन हम आगे चल कर करेंगे, परंतु असंप्रज्ञात (निरोधमुखी वृत्ति के पार) समाधि सब वृत्तियों का अन्त (निरोध) होने पर ही आती है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

मूलार्थ— योग (का अन्तिम लक्ष्य) चित्तवृत्तियों का निरोध है ॥ २ ॥

तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते। योग-श्चित्तवृत्तिनिरोधः। सर्वशब्दाग्रहणात्संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थिति-शीलत्वात् त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति।

उस योग का वर्णन करने के लिये यह सूत्र आरंभ होता है— योग (का अन्तिम लक्ष्य) चित्तवृत्तियों का निरोध है। 'सर्व' शब्द न लेने से संप्रज्ञात समाधि भी योग कहलाती है (क)। प्रकाश, प्रवृत्ति व आलस्य के स्वभाव वाला होने

यह योग के राजकीय स्वरूप को सूचित करता है और यह धर्म चित्त की सारी भूमियों में जाने का अधिकार रखता है। जैसे राजा राज्य में सर्वत्र जा सकता है परन्तु एक साधारण मनुष्य राजभवन में प्रवेश नहीं कर सकता, इसीप्रकार एकाग्र चित्त निम्न तीनें भूमियों में विचरण कर सकता है। (२) गाढ़ निद्रा अथवा मूर्च्छा आदि में चित्त की अवस्था दूसरी भूमि है जहां ज्ञान का अभाव होता है। (३) विशेष नियुक्ति में काम करते हुए चित्त को विक्षिप्त कहा जाता है। यह सफलता व असफलता रूप दो लक्ष्यों के मध्य (डोलायमान रहता हुआ) काम करता है जैसे कि गणितशास्त्रविद् अथवा वैज्ञानिक आदि का चित्त एकाग्र नहीं होता। इसी चित्त को ही विक्षिप्त कहते हैं। (घ) इससे यह समझना है कि पहिली दो भूमियां तीसरी भूमि के अन्तर्गत हैं।

टि: सू. २ (क) 'चित्तवृत्ति' शब्द के पहिले यदि 'सर्व' शब्द का प्रयोग होता तो संप्रज्ञात समाधि योग के अन्तर्गत न होती, क्योंकि इस संप्रज्ञात (अन्तर्मुखी वृत्तिसहित) समाधि में चित्त व्युत्थान (बहिर्मुखी) वृत्तियों को छोड़ता हुआ निरोधवृत्ति में काम करता है (यो. सू. ३।९-१२)।

तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति । तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति । तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति । तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः ।

से चित्त तीन गुण वाला है। निःसन्देह प्रकाशमय चित्त-सत्व (बुद्धि) रजो और तमोगुण से मिला हुआ होकर ऐश्वर्य व विषयप्रिय होता है (१)। वही चित्त तमोगुण द्वारा आक्रांत हो कर अपने स्वरूपभान का अभाव, ज्ञान का अभाव, वैराग्य का अभाव और ऐश्वर्य के अभाव की स्थिति को प्राप्त होता है (२)। वही चित्त मोह आवरण से मुक्त तथा सर्व ओर से प्रकाशमान हुआ एकमात्र रजोगुण से मिलित होकर अपने स्वरूप भान, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर झुकता है (३)। वही चित्त रजोगुण की शेष मल से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित होता है तथा सत्व (बुद्धि) और पुरुष के मध्य भेद का एकमात्र प्रकाश रूप होता हुआ धर्ममेघ नामक समाधि की स्थिति में पहुंचता है (४)। ध्यान करने वाले महाजन इसे अन्तिम क्षण से मुक्ति कहते हैं (ख)।

चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति । अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि । तदवस्थं चित्तं संस्कारोपगं भवति स निर्बीजः समाधिः । न तत्र किंचित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः । द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ॥ २ ॥

चितिः रूप शक्ति (पुरुष) (ग) अपरिणामी, अचल, विषया को दिखाये जाने वाली, शुद्ध और अनन्त है तथा सत्त्वशक्ति (बुद्धि) तीन गुणों से बनी हुई है। अतः यह ' उस ' (पुरुष) से विपरीत है। इस भेद के प्रकाश को ही विवेकख्याति कहते हैं। तत्पश्चात् इस स्थिति से भी चित्त उपरत होकर इस प्रकाशमयी (निरोधमुखी) वृत्ति को भी निरोध करता है। तदवस्था में चित्त

(१-५) पूर्वसूत्र वर्णित ये क्रमशः चित्त की पांच भूमियां हैं।

(२) चित्त की दूसरी भूमि के वर्णन से हमें यह समझना है कि इस स्थिति में पाप-पुण्य आदि उपार्जन से संबंध न रखनेवाली अकर्मण्य अवस्था को चित्त प्राप्त होता है, क्योंकि ये पाप-पुण्य केवल रजोगुण की सहायता से ही प्राप्त किये जाते हैं।

(ख) भगवान् शंकराचार्य के मत में यह साधन-चतुष्टय-सम्पन्न (नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, इस लोक व स्वर्गलोक के फलभोग से वैराग्य, शम-दम आदि छः सम्पत्ति तथा ब्रह्मनिर्वाण के लिये तीव्र इच्छा) की स्थिति नामक कर्म की अन्तिम सीमा है। इसे कार्य-विमुक्ति भी कहा जाता है। भगवद्गीता में इसी के विभिन्न प्रतिशब्दों का प्रयोग है यथा ' धीर ', ' ब्रह्मभूत ', ' स्थितप्रज्ञ ', ' ब्राह्मी स्थिति ', ' सांख्य ', ' गुणातीत ', ' प्रज्ञावान् ' इत्यादि।

(ग) चित्, चितिः, चैतन्य आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग शब्दकोष्ठक में देखो।

अन्तिम संस्कार में पहुंचता है। यही निर्बीज समाधि है (५)। 'वहां' कुछ भी नहीं जाना जाता, इसकारण यह 'असंप्रज्ञात' (अर्थात् बुद्धि वृत्ति के पार) है। चित्तवृत्तियों का निरोध रूप यह योग दो प्रकार का है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

मूलार्थ— उस स्थिति में द्रष्टा का अवस्थान अपने स्वरूप में होता है ॥ ३ ॥

तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभाव इति? तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये। व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ति न तथा ॥ ३ ॥

चित्त की उस स्थिति में विषयों का अभाव होने से बुद्धि के बोध का आत्मा रूप 'पुरुष' किस स्वभाव वाला होगा? उस स्थिति में द्रष्टा (क) का अवस्थान अपने स्वरूप में होता है। उस समय चितिः रूप शक्ति (पुरुष) अपने स्वरूप में स्थित होती है जैसे कि कैवल्यावस्था में व्युत्थान (बहिर्मुखी) चित्त में यद्यपि यह (चितिः रूप शक्ति) उसी प्रकार स्थित है, तथापि यह उस प्रकार नहीं भासती।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

मूलार्थ-- अन्य अवस्था में वृत्तियों के साथ एकरूपता होती है ॥ ४ ॥

कथं तर्हि? दर्शितविषयत्वात् वृत्तिसारूप्यमितरत्र। व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः। तथा च सूत्रम्। एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनमिति। चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः। तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः सम्बन्धो हेतुः ॥ ४ ॥

तब कैसे है? विषयों को दिखाये जाने का भाव रहने के कारण अन्य अवस्था में वृत्तियों के साथ एकरूपता होती है। व्युत्थान (बहिर्मुखी) अवस्था में चित्त की जो जो वृत्तियां होती हैं, 'पुरुष' उन (वृत्तियों) से अभिन्न स्थितिवाला होता है। पुनः, इसी प्रकार और भी एक सूत्र है—'दर्शन केवलमात्र एक ही है; प्रकाशमयी वृत्ति ही दर्शन है'। चुंबक की भाँति चित्त 'पुरुष' के साक्षात् समीप होने से तथा दृश्य का भाव रखने के कारण स्वामी रूप 'पुरुष' का सहायकारी साथी बन

---

(५) यह चित्त की अन्तिम भूमि है। गीता में इसे ब्रह्मनिर्वाण, अमृतत्व, परमधाम, सद्योमुक्ति आदि शब्दों में कहा गया है। यह चित्तविमुक्ति नामक ब्रह्मसूत्र का विषय है। यह स्वयं प्रकाश है तथा कर्माधीन नहीं है।

सू. ३ (क) दृक्, दृशिः, दृष्टिः, दर्शन और दृश्य आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग शब्दकोष्ठक में देखो।

जाता है। इसलिये, 'पुरुष' का चित्त के साथ अनादि संबंध ही चित्तवृत्तियों को बोध करने का कारण है।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

मूलार्थ--(बहिर्मुखी) वृत्तियां पांच प्रकार की हैं--दुःखदायी और दुःख न देने वाली -५.

ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य, वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः। क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः। क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति। अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते। संस्कारैश्च वृत्तय इति। एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते। तदेवं-भूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति ॥ ५ ॥

चित्त की इन (बहिर्मुखी) वृत्तियों का बहु होने के कारण निरोध करना है। चित्त की (बहिर्मुखी) वृत्तियां पांच प्रकार की हैं— दुःख-दायी और दुःख न देने वाली। दुःखदायी वृत्तियां वे हैं जो कर्माशय की वृद्धि के लिये उत्पन्न करने वाली भूमि के रूप में क्लेशों का कारण हैं और दुःख न देने वाली वृत्तियां वे हैं जो प्रकाश के क्षेत्र वाली और गुणों के व्यापार की विरोधी होती हैं। दुःख के प्रवाह में पड़ी हुई तथा दुःख के व्यवधान में उपस्थित रहने से भी दुःख न देने वाली वृत्तियां वैसी ही रहती हैं (क)। दुःख न देने के व्यवधान में उपस्थित रहने पर भी दुखदायी वृत्तियां भी वैसी ही रहती हैं (ख)। वृत्तियों द्वारा उन्हीं जातियों के संस्कार उत्पन्न होते हैं। और फिर उन्हीं संस्कारों से वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार, वृत्ति और संस्कारों का चक्र बिना किसी विश्राम के सदा ही घूमता है। इस प्रकार का चित्त अपने ऋणों (भोग व अपवर्ग) से मुक्त हो कर अपने स्वरूप (ग) में स्थित होता है और प्रलय (घ) को जाता है।

सू. ५ (क) तपस्या (वर्णाश्रमविभागानुसार कर्त्तव्य) और स्वाध्याय (ब्रह्मचर्य आश्रम के कर्त्तव्य) आदि के संपादन काल में ये दुःखदायी होने से भी भविष्य में दुःख न देने वाले होते हैं। (ख) इन्द्रियभोग, भोग-काल में दुःख न देने वाले होने पर भी अन्त में दुःखदायक होते हैं। (ग) यह संप्रज्ञात (निरोधमुखी वृत्ति सहित) समाधि की स्थिति है। (घ) यह असंप्रज्ञात (निरोधमुखी वृत्ति के भी पार) समाधि को सूचित करता है।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

मूलार्थ— सत्यज्ञान, उल्टाज्ञान (विपर्यय), मनोकल्पना (विकल्प), निद्रा और स्मृति (ये बहिर्मुखी) वृत्तियां हैं ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

मूलार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान और (शब्द संबंधीय) वेदशास्त्र का ज्ञान ही सत्यज्ञान है ॥ ७॥

ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः । प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।

दुःख देने वाली व दुःख न देने वाली पांच प्रकार की (बहिर्मुखी) वृत्तियां ये हैं— सत्यज्ञान, उल्टा ज्ञान (विपर्यय), मनोकल्पना, निद्रा और स्मृति । प्रत्यक्ष, अनुमान और (शब्द संबंधीय) वेद-शास्त्र का ज्ञान ही सत्य-ज्ञान है ।

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः । बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः ।

'प्रत्यक्ष' बाह्यविषयों के संबंध में चित्त की वृत्ति है, यह वृत्ति इन्द्रियमार्ग से बाह्य वस्तुओं का रंग धारण करती है तथा सामान्य और विशेष स्वरूप वाले विषयों के विशेष स्वरूप को निश्चय करने वाली प्रधान वृत्ति है । इसका फल 'पुरुष' के संबंध में चित्तवृत्तियों का अभिन्न बोध है । आगे चलकर हम स्थापित करेंगे कि 'पुरुष' बुद्धि में प्रतिबिंबित हो कर द्रष्टा बनता है ।

अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् । यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत् । विन्ध्यश्चाप्राप्तेरगतिः ।

अनुमान करने योग्य समान जातीय पदार्थों में अनुकूल संबंध तथा भिन्न जातीय पदार्थों में जो पृथक् संबंध है, उसी संबंध विषयक सामान्य स्वरूप को निश्चय करने वाली प्रधान वृत्ति अनुमान है । उदाहरणार्थः— चैत्र (एक मनुष्य) की न्याईं स्थानान्तर प्राप्ति के कारण चन्द्र व तारों को गतिशील अनुमान किया जाता है । अचल होने के कारण विंध्य (पर्वत) को गतिहीन अनुमान किया जाता है ।

आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः । यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न

अपना बोध दूसरे को जनाने के लिये एक निपुण पुरुष द्वारा देखा व अनुमान किया हुआ सत्य का विधान शब्दों द्वारा किया जाता है ।

दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते। मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥ ६ ॥ ७ ॥

शब्द से आया हुआ वह सत्य विषयक वृत्ति श्रोता के लिये (आगम) शब्द संबंधीय ज्ञान है। जिस वक्ता ने सत्य को न देखा और न ही ठीक अनुमान किया तथा जिसकी वाणी की सत्यता विश्वासयोग्य नहीं है, उसका आगम (शब्द-संबंधीय प्रमाण) स्थिर नहीं है। परन्तु मूल वक्ता (क) के संबंध में अनुमान किया हुआ या देखा हुआ सत्य निःसन्देह स्थिर है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

मूलार्थ— विपर्यय वह मिथ्या ज्ञान है जो अपने स्वरूप के उल्टे दिखाव में रहता है – ८

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। स कस्मान्न प्रमाणं यतः प्रमाणेन बाध्यते। भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्। तद्यथा द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति। सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या। अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति। एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते ॥ ८ ॥

विपर्यय वह मिथ्याज्ञान है जो अपने स्वरूप के उल्टे दिखाव में रहता है। यह, सत्यज्ञान (प्रमाण) क्यों नहीं है? कारण, यह सत्यज्ञान द्वारा नष्ट होता है, क्योंकि विद्यमान द्रव्य की सत्यता ही सत्यज्ञान (प्रमाण) का क्षेत्र है। प्रमाण (सत्यज्ञान) से ही विपर्यय (उल्टा ज्ञान) का अभाव होना देखा जाता है। उदाहरणार्थः— दो चन्द्रों का देखना सद्विषय रूप एक चन्द्र को देखने से नष्ट हो जाता है। यही वह पांच पदवाली अविद्या है यथा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये सब क्लेश कहलाते हैं। उनके अपने अपने नाम निम्नलिखित हैं यथा तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध तामिस्र। इन सब का वर्णन चित्तमल के प्रसंग में किया जायेगा (क)।

टिः (क) मूल वक्ता ईश्वर है। इससे व्यास भगवान् वेदशास्त्र की प्रामाणिकता को पुष्ट करते हैं। अतः हमें
सू. ७ अधिकार मिलता है कि हम आधुनिक गुरुओं के विरुद्ध मतवादों का खंडन करें।

टिः (क) इस विपर्यय के क्षेत्र में एक विद्यमान वस्तु है परन्तु उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न ग्रहण करता
सू. ८ हुआ वह विपर्यय उसे उसी दिखाव में एक उल्टे स्वरूप वाला द्रव्य मानता है। यहां 'रज्जु–सर्प' शुक्ति–रजत (सीप–चांदी) इत्यादि का उदाहरण समझना होगा।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

मूलार्थ — शब्दों के ज्ञान पर ही आधार रखती हुई मनोकल्पना (विकल्प) वस्तु से शून्य है--९

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । स न प्रमाणोपारोही । न विपर्ययोपारोही । वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते । तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते ? भवति च व्यपदेशे वृत्तिः । यथा चैत्रस्य गौरिति । तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मो निष्क्रियः पुरुषः । तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते । तथाऽनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति । उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमवगम्यते, न पुरुषान्वयी धर्मः । तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥ ९ ॥

शब्दों के ज्ञानपर ही आधार रखती हुई मनोकल्पना (विकल्प) वस्तु से शून्य है। यह न प्रमाण (सत्यज्ञान) और नहीं विपर्यय (उल्टा ज्ञान) के अन्तर्गत है (क)। वस्तु से शून्य होने पर भी शब्दज्ञान के बल पर निर्भर करता हुआ इसका व्यवहार देखा जाता है । उदाहरणार्थ:– ' पुरुष ' ' चैतन्य ' के स्वरूप को रखता है। जब चितिः (सगुण ब्रह्म) ही ' पुरुष ' है तब यहां किससे कौन सूचित होता है? अर्थ-सूचना में कुछ संबंध अवश्य ही हुआ करता है (ख) जैसे चैत्र गाय रखता है । इस प्रकार, ' निष्क्रिय पुरुष ' का यह अर्थ है कि ' पुरुष ' उस धर्म (गुण) को रखता है जिसे ' वस्तु ' में निषेध किया जाता है (ग)। यदि यह कहा जाये कि ' बाण (एक पुरुष) है, रहेगा और था ' तो (' होना ') धातु का अर्थ ' गति ' की निवृत्ति में ही आता है (घ)। इसी तरह, इस कथन से कि ' पुरुष अजन्म-धर्म वाला है ' यही समझना है कि ' उस ' में जन्म लेना रूप धर्म का अभाव है (ङ)। ' पुरुष ' के साथ

टिः
सू.९ (क) प्रमाण (सत्यज्ञान) विद्यमान वस्तु के सत्य स्वरूप को ही रखता है; विपर्यय (उल्टा ज्ञान) भी विद्यमान द्रव्य को उसी दिखाव के उल्टे स्वरूप में ग्रहण करता है, परन्तु विकल्प (मनोकल्पना) के बारे में कोई विद्यमान द्रव्य अथवा वस्तु नहीं है । केवलमात्र शब्दों पर ही निर्भर करता हुआ यह एक-मात्र कल्पना के बल से कुछ नया बनाता है। ' आकाश–कुसुम, ' ' शश–शृंग (खरगोश का सींग) ' ' वन्ध्या–पुत्र ', आदि उदाहरण यहां समझने चाहिये। (ख) संबंध दो वस्तुओं के मध्य होता है, परन्तु ' पुरुष ' संबंध रहित है; अतः, उन पर आरोप किया गया यह संबंध कल्पित ही है । (ग) ' पुरुष ' कोई गुण नहीं रखता । विषम शक्ति (प्रधान) में रहने वाले गुणों का यह निषेध ' उस ' में आरोप किया जाता है । (घ) ' पुरुष ' की कोई गति नहीं है, परन्तु समय परिवर्तन संबंधीय काल ' उसमें ' आरोपित होता है । (ङ) यद्यपि " पुरुष ' का ऐसा कोई यथार्थ धर्म नहीं है जो ' है ' शब्द में कहा जा सके, तथापि ' उस ' में निषेधार्थक धर्म आरोपित होता है ।

संबंध रखने वाला कोई भी धर्म नहीं है; अतः, यह धर्म कल्पित है और इससे व्यवहार चला आता है।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

मूलार्थ– अभाव रूप ज्ञान को आलंबन करने वाली चित्त की वृत्ति निद्रा है– १०

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात्प्रत्ययविशेषः। कथं ? सुखमहमस्वाप्सम्। प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्। गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्, गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तम्, अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न

अभाव रूप ज्ञान को आलंबन करने वाली चित्त की वृत्ति (क) निद्रा है। पुनः जागने पर गंभीर विचार से यह विशेष ज्ञान आता है कि मैं सुख से सोया था, मेरा मन प्रसन्न है, यह मेरे ज्ञान को स्वच्छ बनाता है (ख)। मैं दुःख से सोया था, मेरा मन सुस्त है, यह अस्थिर होकर घूमता है (ग)। मैं मूढ़ होकर गाढ़ निद्रा में था, मेरे अंग भारी हैं, मेरा चित्त थका हुआ है, यह ज्ञानशून्य की न्याईं आलस्य से पूर्ण है (घ)। यदि इस प्रकार के ज्ञान का अनुभव न होता तो एक जागृत मनुष्य को निःसन्देह ऐसा पुनः स्मरण न आता और उन ज्ञानों के

विकल्प (मनोकल्पना) के स्वरूप को भली प्रकार समझने के लिये ज्ञान और भक्ति के संबंध में आजकल के भ्रमपूर्ण विचार ही यथेष्ट उदाहरण हैं। कई लोग यह निःसन्देह ले बैठते हैं कि ज्ञान व भक्ति दो पृथक् सत्ता हैं— एक पुरुष और दूसरा स्त्री है, ये दोनों विरुद्ध जाति के हैं; अतः, ये एक दूसरे के अत्यन्त ही विरोधी हैं। परंतु यह विदित सत्य है कि 'ज्ञानम्' शब्द पुंलिंग नहीं किन्तु क्लीब है। अंगरेज़ी में 'भक्ति' शब्द का कोई भी एक प्रतिशब्द नहीं देखा जाता। 'ज्ञान' ज्ञा (जानना) धातु से आता है जिसका अर्थ चित्ताधीन कर्म है और भक्ति 'भज्' (सेवा करना) धातु से आती है जिसका अर्थ अध्यात्मकर्म है (पुस्तक के प्रारम्भ में सूचना देखो)। अतः, दोनों का धातुगत अर्थ एक ही तत्त्व अर्थात् अध्यात्मकर्म को सूचित करता है। विकल्प (मनोकल्पना) की यह भयानक प्रकृति उनके विरोधी स्वरूप को दिखाती है (देखो यो. सू. ४।१०)।

सू. १० (क) इस सूत्र में ग्रन्थकार 'वृत्ति' शब्द को विशेष रूप में उल्लेख करते हैं। इससे यह समझना है कि यहां अवश्य ही कोई गुप्त अर्थ है और यह केवल 'ज्ञान के एक विशेष प्रकार' को ही सूचित करता है। दूसरे शब्दों में हमें यह ध्यान में रखना है कि निद्रा एक ऐसी स्थिति नहीं जहां चित्त सब (बहिर्मुखी) वृत्तियों से मुक्त हो सके। (ख) सात्विक निद्रा। (ग) राजस निद्रा। (घ) तामस निद्रा।

स्यादसति प्रत्ययानुभवे। तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

आश्रित तथा उन विचारों के संबंध में स्मृतियां न होतीं। अतः, निद्रा एक विशेष प्रकार का ज्ञान है। पुनः समाधि के लिये दूसरे बहिर्मुखी ज्ञानों की तरह इसका भी निरोध करना होगा (ङ)।

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

मूलार्थ—अनुभव किये हुए विषयों का न भूलना (अर्थात् धारणा शक्ति) स्मृति है- ११

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः। किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति। अहोस्विद्विषयस्येति? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तज्जातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः। ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः। सा च द्वयी-भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च। स्वप्ने भावि-

अनुभव किये हुए विषयों का न भूलना (अर्थात् धारणा शक्ति) स्मृति है। क्या चित्त ज्ञान को स्मरण करता है या विषय को (क)? ज्ञान, 'ग्राह्य' पदार्थ से रंगा हुआ हो कर 'ग्राह्य' विषय तथा 'ग्रहण' करण इन दोनों के आकार में भासता हुआ उसी जाति के संस्कार को बनाना आरंभ करता है। यह संस्कार अपने को प्रकट करने वाले कारण (अनादि संस्कार) के रंग को

(ङ) हम उसी वस्तु को स्मरण कर सकते हैं जिसका अनुभव पहिले हो चुका हो, परन्तु जिसको अनुभव नहीं किया ऐसे किसी भी द्रव्य का स्मरण नहीं हो सकता। अतः, यदि हम गंभीरता से निद्रा को विचारें तो निद्रावस्थामें हम ज्ञान के दो रूपों को स्पष्टतः देखते हैं। एक ओर मैं बेहोश हो जाता हूं और दूसरी ओर मैं अपनी बेहोशी का ज्ञान रखता हूं। यदि यह ऐसे न होता तो मैं कैसे अपनी बेहोशी को स्मरण कर सकता। अतः एक निम्नात्मा और दूसरी उच्चात्मा है। निम्नात्मा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के अधीन रहती है। दूसरी ओर उच्चात्मा सदा ही तुरीय (मुक्त) अवस्था में रहती है, इसे कूटस्थ (अपरिणामी) कहा जाता है। क्लेश, कर्म और विपाक (फलनिष्पत्ति) के कारण रूप तीन गुणों के व्यापार की वश्यता से निम्नात्मा 'चित्त' को मुक्त करना ही विज्ञान के इस सिद्धांत का तात्पर्य है। इसलिये, भाष्यकार का यह कहना है कि निद्रा चित्त की एक विशेष प्रकार की (बहिर्मुखी) वृत्ति है जिसे बहुत लोग वृत्ति रूप में समझ नहीं पाते। लोगों का यह विश्वास है कि निद्रावस्था की न्याई मन की अकर्मण्यता ही कैवल्य (मुक्ति) है। वास्तव में, समाधि के लिये अन्य वृत्तियों की तरह निद्रावृत्ति को भी अवश्य ही निरोध करना है। इस वश्यता से मुक्त होकर हमारी निम्नात्मा जिस स्थिति को प्राप्त करेगी वह ब्रह्मसूत्र का विषय होगा।

सू. ११ (क) वेदान्त दर्शन में चैतन्य के चार विभाग हैं यथा प्रमा (चितिः) प्रमाता (चैतन्य), प्रमाण (चित्त) और प्रमेय (चेत्य)। यहां प्रमाण और प्रमेय, चैतन्य के बाह्य रूप हैं तथा प्रमा और प्रमाता अध्यात्म

तस्मर्तव्या । जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति । सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्प्रभवन्ति । सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः । सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः । मोहः पुनरविद्येति । एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसंप्रज्ञातो वेति । ॥ ११ ॥

ले कर 'ग्राह्य' विषय व 'ग्रहण' करण के स्वरूप और आकारवाली स्मृति को उत्पन्न करता है। वहां ग्राह्य से पहिले आनेवाला (करण) 'ग्रहण' ज्ञान (बुद्धि कर्म) है (ख) और जिसमें 'ग्रहण' करण से पहिले ग्राह्य विषय (ग) आता है वह स्मृति है। पुनः यह (स्मृति) दो प्रकार की है—भावितस्मर्तव्या (उत्पन्न करके स्मरण करने योग्य पदार्थ) और अभावितस्मर्तव्या (न उत्पन्न करके स्मरण करने योग्य पदार्थ)। स्वप्नकाल में भावितस्मर्तव्या (जीव द्वारा सृष्ट पदार्थों) और जाग्रतकाल में अभावितस्मर्तव्या (ईश्वर द्वारा बनाये गये पदार्थों को स्मरण करने वाली) (घ) है। ये सब स्मृतियां प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के अनुभव से उत्पन्न होती हैं। ये सब चित्त की वृत्तियां सुख दुःख और मोह के स्वरूप वाली हैं। पुनः सुख, दुःख व मोह को क्लेश के संबंध में वर्णन किया जायेगा। सुखानुभव के पीछे राग (आसक्ति) और दुःखानुभव के पीछे द्वेष (घृणा) रहते हैं। फिर मोह अविद्या है। इन सब चित्त की वृत्तियों का अवश्य ही निरोध करना है। इनके निरोध करने पर संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि आती है।

रूप हैं। (ख) बुद्धि (ग्रहण रूप ज्ञानकर्म) अभिज्ञा प्रत्यक्ष है (अर्थात् उत्पन्न करने वाली चित्त-शक्ति यथा स्वप्न में यह नदी, यह हाथी इत्यादि— यहां यह भाव नहीं आता कि ये वस्तुएं वेही हैं जो मैंने पहिले देखी हुई थीं अर्थात् यहां इन्हें एक नये रूप में ही देखा जाता है। इसका संबंध प्रकृति से है)। (ग) 'स्मृति' प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष है (अर्थात् पुनरुत्पन्न करने वाली चित्त-शक्ति यथा कपूरथले का वही हाथी अमृतसर में है इत्यादि। इसका संबंध निमित्त अर्थात् उद्बोधक कारण से है)। (घ) भावितस्मर्तव्या को प्रातिभासिकसत्ता (स्वाप्निक जगत् अर्थात् जीव सृष्टि) कहा जाता है और अभावितस्मर्तव्या को व्यवहारिक सत्ता (ईश्वर-सृष्ट दृश्यमान् जगत्)। वेदान्तदर्शन इस व्यवहारिक सत्ता को महत्त्व नहीं देता, क्योंकि इसमें कर्मभूमि के पार शुद्ध तत्त्व 'वस्तु' का वर्णन होता है। हमें सदा ध्यान में रखना है कि ब्रह्म-जिज्ञासा के लिये योग्यता रूप साधन चतुष्टय-सम्पन्न होना ही वेदान्तदर्शन की नींव है। बहिर्मुखी संस्कारों को क्रमशः नष्ट करके निरोध संस्कार की विधि तथा उसका स्वरूप दिखाना ही योगसूत्र का लक्ष्य है। इसीकारण यह शास्त्र व्यवहारिक सत्ता से आरंभ होता है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

मूलार्थ— उनका निरोध अभ्यास और वैराग्य से आता है— १२

अथासां निरोधे क उपाय इति ? अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः । चित्तनदी नामोभय-तोवाहिनी या वहति कल्याणाय वहति पापाय च । या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा । संसारप्राग्भारा अविवेक-विषयनिम्ना पापवहा । तत्र वैराग्येण विषय-स्रोतः खिलीक्रियते । विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्ति-निरोधः ॥ १२ ॥

अब उनको निरोध करने के क्या उपाय हैं ? उनका निरोध अभ्यास और वैराग्य से आता है। चित्त रूप नदी दोनों ओर बहती है—या तो कल्याण की ओर, या पाप की ओर। जो निः-सन्देह कैवल्य का भार सामने रखता हुआ विवेक के विषय (क) की ओर झुका हुआ है, वह कल्याण का प्रवाह है, तथा जो पुनर्जन्म के भार को सामने रखता हुआ अविवेक के विषय की ओर झुका हुआ है, वह पाप का प्रवाह है। वहां, इन्द्रियभोग्य विषय की ओर प्रवाह को वैराग्य द्वारा बन्द किया जाता है तथा विवेक-दर्शन के अभ्यास (अध्यात्मकर्म) से विवेक-प्रवाह को खोला जाता है। अतः, चित्तवृत्तियों का निरोध इन दोनों (अभ्यास व वैराग्य) के अधीन है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

मूलार्थ— वहां, स्थिति के लिये यत्न ही अभ्यास है- १३

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिस्तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमु-त्साहस्तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानम-भ्यासः ॥ १३ ॥

बहिर्मुखी वृत्तियों से रहित चित्त के शान्त प्रवाह का नाम स्थिति है (क)। उस लक्ष्य के लिये उद्यम और उत्साह यत्न हैं (ख)। उस लक्ष्यप्राप्ति के लिये साधनों के अनुष्ठान का नाम अभ्यास है (ग)।

सू.१२ (क) जड़-सत्ता से चेतन-सत्ता को पृथक् करना ही विवेक कहलाता है, क्योंकि जड़सत्ता और चेतन-सत्ता के संयोग से ही जगत् उत्पन्न हुआ है। लय क्रम में अहंग्राह्य प्रज्ञा को प्राप्त करने से उक्त संयोग का अभाव हो जाता है। अतः यह अहंग्राह्य प्रज्ञा विवेक कहलाती है।

सू.१३ (क) यह उद्देश्य है। (ख) उद्देश्य प्राप्ति के लिये प्रयत्न और (ग) उस उद्देश्य प्राप्ति का उपाय।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

मूलार्थ— दीर्घकाल तक निरन्तर रूप में तीव्र यत्न से सेवित (अध्यात्म . मे द्वारा संपादित) हो कर निरोध दृढ़ होता है- १४

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। दीर्घकालासेवितो निरन्तरासेवितः सत्कारासेवितः तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च संपादितः सत्कारवान्दृढभूमिर्भवति। व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ॥ १४ ॥

दीर्घकाल तक निरन्तर रूप में तीव्र यत्न से सेवित (अध्यात्मकर्म द्वारा संपादित) होकर निरोध दृढ़ होता है। "दीर्घकाल तक सेवित", "निरन्तर रूप से सेवित" और "तीव्र यत्न से सेवित" का यह अर्थ है कि तप, ब्रह्मचर्य, क्रमबद्ध क्रियाविधि का ज्ञान और श्रद्धा द्वारा संपादित हो कर निरोध अभिनंदित तथा दृढ़ स्थिति वाला होता है। अभिप्राय यह है कि यह (निरोध) बहिर्मुखी संस्कारों द्वारा शीघ्र न जीता जाने वाला विषय है (क)।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

मूलार्थ— दृष्ट व शास्त्रकथित भोगों से इच्छा रहित मनुष्य को वश में करने वाला मनोबल वैराग्य है— १५.

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये विरक्तस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

दृष्ट व शास्त्र कथित भोगों से इच्छा रहित पुरुष का वश में करने वाला मनोबल वैराग्य है। स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषयों में विरक्त तथा स्वर्ग, विदेह और प्रकृतिलयों की अवस्था प्राप्तिरूप शास्त्रकथित विषयों में विरक्त एवं स्वर्गीय व सांसारिक विषयों से चित्त का संयोग होने पर भी जो विवेक बल से विषयों का दोषदर्शन करने वाला है; उस मनुष्य का भोग न करने के स्वभावयुक्त और आसक्ति-विरक्ति शून्य वश में करने वाले मनोबल का नाम ही वैराग्य (क) है।

सू.१४ (क) इससे हमारे भाष्यकार अभ्यास का विशेष महत्त्व दिखाते हैं। अतः, यह स्पष्ट है कि यह अभ्यास एक मनमाना पथ नहीं है। चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियों के निरोध-संपादन के लिये उपरोक्त सारी योग्यताओं की आवश्यकता है। यह केवल पुस्तक-ज्ञान से ही प्राप्त नहीं किया जा सकता।

सू.१५ (क) इससे यह स्पष्ट है कि वैराग्यवान् योगी केवलमात्र भोग्य पदार्थों से ही सदा काल के लिये विरक्त और आसक्ति रहित होता है, परन्तु उन पदार्थों को भोगने वालों के प्रति ईर्षापरायण नहीं होता, और दूसरी ओर, वह वैराग्य की ओट में विषयविलास को नहीं भोगता जैसे कि आजकल के बहुत लोग करते हैं।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

मूलार्थ— उसी (वैराग्य) का नाम परवैराग्य होता है जब ‘ पुरुष ’ के प्रकाशन (दर्शन) से उत्पन्न सद्गुणों के प्रति इच्छा का अभाव आता है— १६.

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः । पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति ।

जो देखे जाने वाले और सुने जाने वाले विषयों में दोष देखता है, वह, ‘ विरक्त ’ है।

जिसकी बुद्धि ‘ पुरुष ’ दर्शन के अभ्यास से उत्पन्न ‘ पुरुष ’ की शुद्धि के स्वच्छ प्रतिबिंब से भरी हुई है, वह व्यक्त (क) और अव्यक्त (ख) सद्गुणों (धर्म) से विरक्त कहलाता है।

तदृद्वयं वैराग्यम् । तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रं यस्योदये सति योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते— प्राप्तं प्रापणीयम् । क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः । छिन्नः श्लिष्टपर्वभवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति ।

अतः, यह वैराग्य दो प्रकार का है। वहां जो शेषोक्त (वैराग्य) है वह केवल अध्यात्मज्ञान की शुद्ध ज्योति है जिसके उदय होने पर योगी इस प्रकाशन से प्रकाशमय हो कर इस प्रकार मानता है— “जो कुछ भी प्राप्त करना था, वह (अब) मैं ने पा लिया है, नाश करने योग्य क्लेश (अब) नष्ट हो चुके हैं, पुनर्जन्म रूप चक्र की कठिन जंजीर तोड़ी गयी है और यदि यह न तोड़ी जाये तो जीव जन्म ले कर मरते हैं तथा मर कर पुनः जन्म लेते हैं ”।

ज्ञानस्यैव परा काष्ठा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥ १६ ॥

वैराग्य निःसन्देह ज्ञान की चरम सीमा है, क्योंकि इसके पश्चात् ही कैवल्य आता है (ग)।

सू. १६ (क) व्यक्त धर्म (सद्गुण) शरीर से संबंध रखते हैं। (ख) अव्यक्त धर्म बुद्धि-क्षेत्र के संबंध को लेकर ही रहते हैं (यो. सू. ३ । ५०)। (ग) इससे यह स्पष्ट है कि जहां ज्ञान है, वहां अवश्य ही वैराग्य रहेगा, फिर जहां भी वैराग्य है वहां अवश्य ही उदासीनता तथा विषय-भोग-विलास का अभाव रहेगा (जैसे कि पूर्व सूत्र में वर्णन किया गया है)। अपने आप को ज्ञानवान् समझने वाले मनुष्य में यदि उक्त सद्गुणों का अभाव हो तो सांसारिक रंग ढंग में चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न माना जाये, अवश्य ही दया का पात्र है।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥

मूलार्थ— वितर्क (मानलेना), विचार (स्वच्छ दृष्टि), आनंद और अस्मिता (शुद्ध मैं पन) के आविर्भाव (प्रकट होना) सहित होने के कारण समाधि का नाम संप्रज्ञात (निरोधमुखी वृत्ति सहित) है— १७.

अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते संप्रज्ञातः समाधिरिति? वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः । वितर्कः चितस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः । एकात्मिका संविदस्मिता । तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः, द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः

अब इन दोनों उपायों द्वारा (बहिर्मुखी) चित्तवृत्तियों को निरोध किये हुए योगी के संबंध में समाधि को संप्रज्ञात क्यों कहा जाता है? वितर्क (मानलेना), विचार (स्वच्छ दृष्टि), आनन्द और अस्मिता (शुद्ध मैं पन) के आविर्भाव सहित होने के कारण समाधि का नाम संप्रज्ञात (सम्पूर्ण निरोध मुखी वृत्ति रूप ज्ञान सहित) है । चित्तालम्बन के लिये स्थूल आकार ही वितर्क है, सूक्ष्म (ज्योति) विचार है, आनन्द हर्ष है और एकत्व स्वरूप का ज्ञान अस्मिता है। यहां, प्रथम समाधि उन चार रूपों को अपने अन्दर रखने से सवितर्क (स्थूलालंबन सहित) कहलाती है (क), दूसरी समाधि वितर्क रहित

सू. १७ (क) इससे यह समझना होगा कि केवल प्रथम समाधि सवितर्क से अर्थात् ध्यान के विषय रूप केवल स्थूलालम्बन से ही शेषोक्त तीन समाधिप्रज्ञा क्रमशः एक एक करके प्रकट होंगी । उदाहरणार्थः— यदि एक मनुष्य सारी वेशभूषा पहिन कर आये तो उसके शरीर का यथार्थ रूप-रंग हम नहीं देख पाते । अन्त में उसके कपड़ों को एक एक करके उतार कर ही हम उसकी पूर्ण आकृति देख सकते हैं । इसी प्रकार, समाधि के बारे में चित्तालंबन के लिये स्थूलाकार अनिवार्य रूप में अवश्यक है । तदनन्तर, क्रमवृद्धविधि द्वारा धीरे धीरे इस स्थूलाकार को भेद करने के पश्चात् अन्यान्य समाधि प्रज्ञायें क्रमशः एक एक करके प्रकट होंगी ।

सवितर्क और सविचार समाधि अर्थात् स्थूल व सूक्ष्म प्रज्ञा की समष्टि गीता के ' अधिभूत ' रूप के साथ समानता रखती हैं, सानन्द समाधि का नाम ' अधिदैव ' अर्थात् ' करणग्राह्य ' है और एकत्व स्वरूप का प्रकाश ' अधियज्ञ ' अर्थात् ' अहंग्राह्य प्रज्ञा ' है । अतः वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता को यथाक्रम स्थूल, सूक्ष्म, करणग्राह्य और अहंग्राह्य समाधि-प्रज्ञा के नाम से कहा गया है । आगे चल कर अहंग्राह्य प्रज्ञा को दो कोटि में विभाजित किया जायेगा यथा ग्रहीतृ (ग्रहण करने वाला) ' पुरुष ' व ' मुक्त पुरुष ' अर्थात् यथाक्रम कुटस्थचैतन्य और चितिः । पुनः, ईश्वर कर्मभूमि के पार होने से ' विशेष पुरुष ' (निर्गुण ब्रह्म) हैं । इन सब शब्दों के भेद को पुस्तक के अन्तमें लगा हुआ शब्द कोष्ठक से जानना होगा ।

सानन्दः, चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति । सर्व एते सालम्बनाः समाधयः । ॥ १७ ॥

होने से सविचार (स्वच्छ दृष्टि सहित) कही जाती है, तीसरी अनुसन्धान रहित होने से सानन्द (हर्ष सहित) है और चौथी उस आनन्द के पार जा कर शुद्ध अस्मिता (शुद्ध मैं पन) है। ये सब समाधियां आलंबन (चित्त की निरोध मुखी वृत्ति के आश्रय) सहित हैं।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

मूलार्थ— दूसरी (असंप्रज्ञात समाधि) के पहिले विराम-ज्ञान का अभ्यास रहने के कारण इसमें संस्कारों का अन्त होता है— १८

अथासंप्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति? विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः । तस्य परं वैराग्यमुपायः । सालम्बनो ह्यभ्यासः तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते । स चार्थशून्यः । तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः ॥१८॥

अब असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति का क्या उपाय तथा क्या स्वभाव है ? दूसरी (असंप्रज्ञात-समाधि) के पहिले विरामज्ञान का अभ्यास रहने के कारण इसमें संस्कारों का अन्त होता है। लयक्रम में सब वृत्तियों के लय होने पर संस्कारों का अन्त रूप चित्त का निरोध असंप्रज्ञात (सम्पूर्ण निरोधमुखी वृत्ति के भी पार) समाधि है। परवैराग्य (क) ही इसकी प्राप्ति के लिये उपाय है, क्योंकि आलंबन में आश्रय रखता हुआ अभ्यास इसके संपादन में असमर्थ है अर्थात् वृत्ति के अभाव रूप ज्ञान के बाह्यतः निस्सार दीखने वाले ठहराव को ही इसका आश्रय बनाया जाता है। यह पुरुषार्थ (भोगापवर्ग) से शून्य है, क्योंकि इस के अभ्यास से युक्त होने पर चित्त न रहने के बराबर (ख) निराश्रित हो जाता है। यह निर्बीज असंप्रज्ञात समाधि है।

---

१८ (क) वेदान्त दर्शन का विषय रूप 'मुक्तपुरुष' अर्थात् चितिः अहंग्राह्य समाधि प्रज्ञा की परम स्थिति है। यह (असंप्रज्ञात समाधि) किसी कर्म द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती । इस लक्ष्य को प्राप्त करने का उपाय एकमात्र परवैराग्य अर्थात् सब कर्मों की निवृत्ति ही है । (ख) यहां भाष्यकार इस विषय को वेदान्त दर्शन पर छोड़ देते हैं ।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

मूलार्थ— जगत्-सत्ता के अधीन रहना विदेह व प्रकृतिलयों के लिये है— १९

स खल्वयं द्विविधः। उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति। भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ १९ ॥

यह (असंप्रज्ञात समाधि) वास्तव में दो प्रकार की है यथा उपाय प्रत्यय (क्रमबद्ध क्रियाविधि के अधीन) और भव प्रत्यय (जागतिक अस्तित्व के अधीन)। क्रमबद्ध क्रियाविधि के अधीन होना योगियों के लिये उपाय है और विदेह व प्रकृतिलय जागतिक अस्तित्व के अधीन रहते हैं। विदेह अर्थात् देवता (क) जागतिक अस्तित्व के आश्रित होते हैं, कारण, ये केवल अपने संस्कार से युक्त चित्त की सहायता से कैवल्य पद की न्याईं स्थिति को भोगते हुए उसी स्थिति के बराबर अपने संस्कार के फलभोग-काल को व्यतीत करते हैं। उसी प्रकार, प्रकृतिलय (ख) प्रकृति में लय हुए (भोगापवर्ग के) कर्त्तव्य द्वारा बंधे हुए चित्त की सहायता से कैवल्य-पद की न्याईं स्थिति को तब तक अनुभव करते हैं जब तक कि चित्त कर्त्तव्यवश हुआ नहीं लौटता।

सू. १९ (क) विदेह वे हैं जो वेदविहित त्रिनाचिकेताग्नि, अग्नि-होत्र इत्यादि रूप पुण्यकर्मों के संपादन से कैवल्य पद की भाँति मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करते हैं (मुंडकोपनिषद् २।१)। इन्हें मनुष्य जीवन में फिर नहीं लौटना पड़ता, परन्तु भविष्य सृष्टि में आयान देवता रूप आधिकारी पुरुष भी बन सकते हैं। उदाहरणार्थः— वैवस्वत मनु के शासनकाल के पश्चात् सुरथ राजा आठवां मनु होगा।
(ख) प्रकृतिलय वे हैं जो केवलमात्र पांचभौतिकतत्त्व नामक जागतिक अस्तित्व में ही विश्वास रखते हैं तथा योग की क्रमबद्ध विधि द्वारा चित्त-शुद्धि के बिना ही एकमात्र प्राणायाम के बल से शरीर छोड़ते हैं। उनका यह विचार है कि मन ही एकमात्र तत्व है, जिससे परे और कुछ भी नहीं है। उनके मत में सुख-दुःख द्वन्द्व का कारण केवल मन ही है, इसलिये मूर्छावस्था की न्याईं मन की वृत्तियों को दबा कर इससे छुटकारा पाना चाहते हैं। अतः जागतिक कर्त्तव्य रूप निमित्त (मानवीय कर्म) के बल से उन्हें जन्म-चक्र में लौटना ही पड़ता है। यह आगे वर्णन किया जायेगा कि भोग और अपवर्ग की पूर्ति ही जागतिक कर्त्तव्य है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

मूलार्थ— दूसरों के बारे में श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृति (धारणाशक्ति) समाधि और प्रज्ञा इस (असंप्रज्ञात समाधि) के पूर्ववर्ती होते हैं—२०

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् । उपायप्रत्ययो योगिनां भवति । श्रद्धा चेतसः संप्रसादः । सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते । समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते । समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते । येन यथार्थं वस्तु जानाति । तदभ्यासात्तत्तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥ २० ॥

यह (असंप्रज्ञात समाधि) क्रमबद्ध क्रियाविधि के अधीन होकर योगियों के लिये ही है । श्रद्धा (क) चित्त की तीव्र शुद्ध अभिलाषा है । एक हितकारिणी माता की तरह यह निःसन्देह योगी की रक्षा करती है । वास्तव में उसी श्रद्धायुक्त विवेकार्थी योगी में उत्साह उत्पन्न होता है । उसी उत्साहपूर्ण योगी को (भगवद्चिन्तन संबंधीय) धारणाशक्ति (स्मृति) मिलती है, पुनः धारणाशक्ति को प्राप्त होने पर चित्त अचंचल हो कर समाधिस्थ होता है । समाधिस्थ चित्त को प्रज्ञाविवेक (अन्तर्दृष्टि) मिलता है जिससे योगी यथार्थ 'वस्तु' को जानता है । इन (श्रद्धा आदि) के अभ्यास से तथा इससे उत्पन्न सद्गुणों के प्रति वैराग्य से असंप्रज्ञात समाधि उत्पन्न होती है ।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

मूलार्थ— तीव्र उद्यमवाले योगियों के यह अतीव निकट है— २१.

ते खलु नव योगिनो भवन्ति । मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति । तद्यथा मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति । तत्र मृदूपायस्त्रिविधः । मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति ।

योगी वास्तव में नौ प्रकार के हैं । वे मृदु, मध्य और अधिमात्र (प्रचंड) उपाय से अभ्यास करने वाले हैं अर्थात् वे मृदु उपाय वाले, मध्य उपाय वाले और अधिमात्र उपाय वाले हैं । वहां,

---

टिः सू. २० (क) बहुतों का यह विचार है कि भक्ति और श्रद्धा का एक ही अर्थ है । परन्तु यदि हम ध्यान पूर्वक इन दोनों शब्दों को विचारें तो इनमें हम बहुत ही भेद देखते हैं । पहिले ही यह सिद्ध हो चुका है कि "भक्ति" शब्द चित्ताधीन कर्म को सूचित करता है, परन्तु 'श्रद्धा' चित्त का झुकाव है । अपने कर्मक्षेत्र के भेदानुसार वही झुकाव भिन्न भिन्न नाम लेता है । दूसरे शब्दों में, यह (झुकाव) उच्च लक्ष्य की भूमि में श्रद्धा, समान स्थिति में प्रेम, निम्नतल में स्नेह, इन्द्रिय भोग्य विषयों में काम, अप्राप्ति में क्रोध, लगाव में लोभ, अहंकार में मद, मेरापन में मोह और दूसरे की सफलता पर ईर्षा में मात्सर्य नाम ग्रहण करता है ।

तथा मध्योपायस्तथाऽधिमात्रोपाय इति । तत्राधिमात्रोपायानां तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २१ ॥

मृदु उपाय तीन प्रकार के हैं यथा मृदु उद्यम, मध्य उद्यम और तीव्र उद्यम । मध्य उपाय और अधिमात्र उपाय भी इसी प्रकार के हैं । वहां, अधिमात्र उपाय से अभ्यासी तीव्र उद्यम वाले के लिये समाधि लाभ और इसके फल (क) अतीव निकट है ।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मूलार्थ-- मृदु, मध्य और अधिमात्र की दशानुसार वहां एक और भी विशेषता है-२२

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः । मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति । ततोऽपि विशेषः । तद्विशेषान्मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नः, ततो मध्यतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्यासन्नतरः, तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलश्चेति ॥ २२ ॥

मृदु तीव्र, मध्य तीव्र और अधिमात्र तीव्र— इसकी तुलनानुसार अधिमात्र उपाय से अभ्यास करते हुए मृदु तीव्र उद्यम वाले के लिये समाधि-लाभ और इसका फल अधिक निकट है, मध्य तीव्र उद्यम वाले के लिये अधिकतर निकट है और अधिमात्र तीव्र उद्यम वाले के लिये अधिकतम निकट है ।

ईश्वरप्रणिधानाद् वा ॥ २३ ॥

मूलार्थ— अथवा ईश्वरपर गम्भीर ध्यान से-- २३

किमेतस्मादेवासन्नतरः समाधिर्भवति ? अथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति ईश्वरप्रणिधानाद्वा । प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण । तदभिध्यान-

क्या यही (अधिमात्र तीव्र उद्यम) एकमात्र उपाय है जिससे समाधि अति शीघ्र आती है ? अथवा इसकी प्राप्ति के लिये और कोई उपाय है ? " अथवा ईश्वर पर गंभीर ध्यान से " (क) । एक विशेष प्रकार के अध्यात्मकर्म रूप गंभीर ध्यान से ईश्वर आकर्षित हो कर उसके एकमात्र

टिः सू. २१ (क) 'समाधिलाभ' शब्द कर्म का द्योतक होने से कर्माधीन संप्रज्ञात समाधि को सूचित करता है तथा 'फल' शब्द कर्म भूमिके पार असंप्रज्ञात समाधिका द्योतक है ।

टिः सू. २३ (क) उदाहरणार्थः—एक दुर्बल मनुष्य चलने के लिये एक सोंटी के आकार में बाह्य सहायता की आवश्यकता रखता है, परन्तु एक बलवान् पुरुष बिना किसी बाह्य सहायता के अपने बल से ही चलता है । प्रथमोक्त मनुष्य के लिये यद्यपि सोंटी की आवश्यकता रहती है, तथापि सोंटी स्वयं उसे नहीं उठाती । उसे स्वयं ही चलना पड़ता है । अतः चलना रूप कर्म दोनों के लिये एक सा है । इसी

मात्रादपि योगिन आसन्नतरः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २३ ॥

अनन्य ध्यान के फलरूप में उस पर अनुग्रह करते हैं। केवल उसी गंभीर ध्यान से ही समाधि लाभ (संप्रज्ञात) और इसका फल (असंप्रज्ञात) योगी को अतीव शीघ्र मिलता है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । २४ ॥

मूलार्थ— क्लेश, कर्म और विपाक (फलनिष्पत्ति) के आशय (भंडार घर) से निर्लिप्त "विशेष पुरुष" ईश्वर है-- २४

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरुषविशेष ईश्वरः। अविद्यादयः क्लेशाः। कुशलाऽकुशलानि कर्माणि। तत्फलं विपाकः। तदनुगुणा वासना आशयास्ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते। स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः।

अब वास्तव में 'प्रधान' (सक्रिय विषम शक्ति) और 'पुरुष' (निष्क्रिय सम शक्ति) से अतिरिक्त यह ईश्वर कौन है? क्लेश, कर्म और विपाक के आशय से निर्लिप्त 'विशेष पुरुष' (क) ईश्वर है। अविद्यादि क्लेश हैं, पुण्य व पाप उत्पन्न करनेवाले कर्म हैं और उनकी फल-निष्पत्ति विपाक है। (पूर्वोक्त तीनों के) गुणवाले संचित संस्कार (वासना) ही आशय हैं। पुनः ये मन में रहते हुए 'पुरुष' में आरोप किये जाते हैं, क्योंकि वही इनके फल का भोक्ता है। उदाहरणार्थ— जय या पराजय सैनिकों में रहती हुई उनके स्वामी पर ही आरोप की जाती है।

प्रकार, पूर्ववर्ती साधन उन्हीं के लिये है जो केवल अपनी ही शक्ति पर पूर्ण विश्वास रखते हैं तथा अपने से पृथक किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं रखते। ये लोग धारणा व ध्यानाभ्यास के लिये अपने शारीरिक अंशों को स्थूलालंबन के रूप में लेते हैं।

यह सूत्र दैवी शक्ति पर ही पूर्ण विश्वास रखने वालों के लिये है। वे धारणा व ध्यानाभ्यास के लिये ईश्वर के विभिन्न रूपों को स्थूलालंबन के रूप में लेते हैं। पुनः "उसकी शक्ति" के विशेष विशेष व्यक्त भावानुसार ये रूप वेद-शास्त्रों द्वारा विहित किये गये हैं। वे योगी विभिन्न रुचियों वाले होने पर भी उनके अभ्यास का स्वरूप एक सा ही है। यह सब आगे चल कर वर्णन किया जायेगा।

टिः सू. २४(क) यह सूत्र वेदान्त के 'सत्यम्' को सूचित करता है। शब्दों की बाह्य समानता को देख कर हमें भ्रम में नहीं आना चाहिये। यदि हम विभिन्न मूल ग्रन्थों में उन शब्दों के पारिभाषिक अर्थों को ध्यान से विचारें तो किसी भी प्रकार का भ्रम नहीं रह सकता। योगसूत्र का यह 'ईश्वर' वेदान्त दर्शन का ब्रह्म है और वेदान्त दर्शन के एकजीव नामक सक्रिय ईश्वर को इस शास्त्र में "पूर्वसिद्ध"

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः, ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

जो वास्तव में इस भोगसे निर्लिप्त है, वही 'पुरुष विशेष' ईश्वर है।

कैवल्य को प्राप्त हुई बहुत ही असंग सत्ता हैं, क्योंकि उन्होंने उन तीन बन्धनों को काट कर कैवल्य पद को प्राप्त किया है। परन्तु ईश्वर का उन बन्धनों के साथ न कोई संबंध था और न ही आगे होगा। मुक्त पुरुषों के पूर्व बन्धन की जो विशिष्टता जानी जाती है, वैसी ईश्वर के संबंध में नहीं है। अथवा जैसे प्रकृतिलयों के अनिवार्य भविष्य बन्धन का अनुमान किया जाता है, वैसा ईश्वर के संबंध में नहीं है। दूसरी ओर, ईश्वर सदा के लिये मुक्त और सदा ही ईश्वर हैं (ख)।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किं निमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वर-

अब परमबुद्धिसत्त्व (प्रधान) को ग्रहण करने से ईश्वर की जो यह सनातन विशिष्टता है, वह कोई कर्म (निमित्त) रखती है या नहीं? इसका कर्म शास्त्रों को प्रकट करना है। पुनः शास्त्रों का क्या कर्म है? इनका कर्म परमबुद्धिसत्व (ग) को दिखाना है। ईश्वरशक्ति में वर्तमान शास्त्र और परमोत्कर्षता के मध्य अनादि संबंध है (घ)।

और योगी नाम दिया गया है (यो. सू. ३। ४४; ४।४)। (ख) इससे यह स्पष्ट है कि आधुनिक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रवर्तक ईश्वर कभी भी नहीं हो सकते, ये मुक्त अथवा शक्ति में बड़े हो सकते हैं, परन्तु ये सब क्लेश-कर्म आदि से लिप्त देखे जाते हैं। (ग) प्रत्येक् विज्ञान कुछ रूपरेखा को लेकर आरंभ होता है। उदाहरणार्थः— रेखागणित बिन्दु से आरंभ होता है। अब बिन्दु का पारिभाषिक अर्थ क्य है? बिन्दु की केवल स्थिति ही है परन्तु परिमाण कुछ भी नहीं। यदि हम पहिले से ही तर्क करें कि जहां भी स्थिति है वहां परिमाण अवश्य ही रहेगा, अतः यह पारिभाषिक अर्थ दोषपूर्ण है; तो क्या ऐसा कोई रेखागणितविद् है जो बिन्दु की उक्त परिभाषा की सहायता बिना रेखागणित के तत्त्व को प्रमाणित कर सके? इसी प्रकार हमारा अध्यात्म विज्ञान अर्थात् वेदशास्त्र भी किसी रूपरेखा से आरंभ होता है और प्रत्येक मूल ग्रन्थ की यह रूपरेखा श्रद्धा है जो यथाविहित विधि-प्रणाली के पालन द्वारा उन ग्रन्थों की तत्त्व-प्राप्ति के लिये तीव्र अभिलाषा है। तदनुसार, हमारे महान् सूत्रकार ने इस विज्ञान में रखे गये तत्त्व को प्रत्यक्ष करने के लिये २० वें सूत्र में क्रमिक पदों का वर्णन किया है। हमारे बुद्धिवादी मित्र विधि को पालन किये बिना तथा यथायोग्य साधनों के अनुष्ठान बिना ही अध्यात्म विद्या के विरोध में युद्ध घोषणा करते हैं। इस विद्या के तत्त्व को प्रत्यक्ष करना उनके लिये कैसे संभव हो सकता है? वास्तव में ये लोग दया के ही पात्र हैं। (घ) ईश्वर निर्गुण है। केवल सत्व नामक उनकी शक्ति ही परम प्रमाण

सत्त्वे वर्तमानयोरनादिः संबन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति।

इससे यह प्रमाणित है कि 'वह' सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर है।

तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्। न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्। तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्।

पुनः उसके ऐश्वर्य के न कोई समान है और न ही उससे बढ़ कर कोई है। कोई भी दूसरा ऐश्वर्य इसके ऐश्वर्य को अतिक्रम नहीं करता। जो कुछ भी सब से बड़ा ऐश्वर्य है वह उसी का ही है। इसी कारण, जिसमें ऐश्वर्य-प्राप्ति का चरम सीमा है, वही ईश्वर है। पुनः उसके समान कोई दूसरा ऐश्वर्य नहीं है। क्यों? कारण यह है कि यदि दो समान शक्तियां एक ही समय एक ही इच्छित विषय में लड़ें अर्थात् एक कहे कि 'यह नया हो' और दूसरी कहे कि 'यह पुरातन हो' तो एक की सफलता पर दूसरी की अप्रतिहत इच्छा शक्ति की पूर्ति न होने के कारण उसकी निम्नता अनुमान की जाती है। और फिर, उद्देश्य विरुद्ध होने के कारण दो समान शक्तियों द्वारा संकल्पित उद्देश्य एक ही समय प्राप्त नहीं किया जा सकता।

तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः। स च पुरुषविशेष इति॥ २४॥

अतः, जिसका ऐश्वर्य दूसरी समान अथवा श्रेष्ठ शक्ति से मुक्त है, वही ईश्वर है और वही "विशेष पुरुष" है (ङ)।

रूप वेदों के साथ अनन्य संबंध रखती है। उदाहरणार्थः— हमारी शारीरिक शक्ति यथाविधि व्यायाम से बढ़ेगी और बीमारी से घटेगी, परन्तु अस्तित्व में हम समभाव में रहते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के संबंध में भी है। शास्त्राज्ञा पालन न करने से तथा वैदिक कर्मों का संपादन न होने से हम ईश्वरशक्ति के विशेष व्यक्तभाव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते और यही जगत् के अधःपतन का हेतु होता है (भ. गी. १५।१) जगत् बढ़े या घटे अर्थात् वेदाधिकार का प्रभाव रहे या न रहे, परन्तु ईश्वर समभाव में ही रहता है। (ङ) कईलोग मूर्खतापूर्वक प्रश्न करते हैं कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो क्या वह अपने समान दूसरे किसी ईश्वर का सृजन कर सकता है? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि एक व्यक्ति तभी अपनी सम्पत्ति का सर्वाधिकारी होता है जब कि उस धन का कोई दूसरा भागीदार अथवा उच्चाधिकारी नहीं रहता।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

मूलार्थ— वहां, सर्वज्ञ-बीज अद्वितीय है— २५

किं च? तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्धिवर्द्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः । अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति । यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति । सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमानं न विशेष प्रतिपत्तौ समर्थमिति । तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या । तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथा चोक्तम् । आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ २५ ॥

अधिक क्या है? वहां (उसमें), सर्वज्ञ-बीज अद्वितीय है। भूत, भविष्य और वर्तमान के संबंध में प्रत्येक या समष्टि का अल्प अथवा बहु इन्द्रियातीत अनुभव सर्वज्ञ-बीज है (क)। यह बीज बढ़ाया जा कर जहां (जिसमें) चरम सीमा में पहुंचता है, वह सर्वज्ञ है। परिमाण की तरह श्रेष्ठतम विस्तार के कारण सर्वज्ञ-बीज की एक चरम सीमा है (ख)। (पुनः) जिसमें ज्ञान की चरमसीमा है, वही सर्वज्ञ है और वही 'विशेष पुरुष' है। केवलमात्र सामान्य ज्ञान के स्थापनार्थ ही अनुमान की आवश्यकता रहती है। 'वस्तु' के विशेष स्वरूप को स्थापन करने के लिये यह समर्थ नहीं होता। 'उसके' नामादि का विशेष ज्ञान वेदों से ही ढूंढना होगा (ग)। यद्यपि 'उसकी' अपनी हिताकांक्षा कुछ भी नहीं है, तथापि भूतप्राणियों पर अनुग्रह करना 'उसका' प्रयोजन है— "ज्ञान व धर्म के उपदेश द्वारा जगत् के सब कल्प, प्रलय और महाप्रलयों में मैं संसारी पुरुषों का उद्धार करूंगा"। इसलिये कहा गया है कि आदि विद्वान्, सर्वशक्तिमान परम ऋषि ने निर्माणचित्त धारण करके दयावश हो कर प्रश्नकारी आसुरी को विद्या का उपदेश दिया (घ)।

सू॰ २५ यह सूत्र वेदान्त के 'ज्ञानम्' (चित्) को सूचित करता है। (क) यह सर्वज्ञ बीज को दिखाता है। (ख) यह सूचित करता है कि ईश्वर सर्वज्ञ-बीज को रखता है। (ग) यह पूर्ववर्ती सूत्र में वर्णित हो चुका है कि ईश्वर-शक्ति के विशेष विशेष कार्यानुसार ही विभिन्न व्यक्तभाव हैं और तदनुसार ही यह विभिन्न नाम धारण करती है जैसे कि ब्रह्मा, विष्णु, देवी इत्यादि। ये सृष्टजगत् के अधिकारी पुरुषनामक देवते हैं। "उसके नामों का विशेष ज्ञान,"— ये शब्द यह सूचित करते हैं कि प्रत्येक देवता की अपनी अपनी विशेष शक्ति तथा कार्य हैं। अतः, उन्हें वेदों से ढूंढने के लिये हमें उपदेश मिलता है। तात्पर्य यह है कि केवल वेदशास्त्रों की आज्ञापालन से ही उन विशेष देवताओं को संतुष्ट करके हम भोग और मोक्षरूप उद्देश्य को पूर्ण कर सकते हैं। (घ) हमें 'प्रश्नकारी आसुरी' कथन के अभिप्राय को जानना होगा। इसका तात्पर्य यह है कि अध्यात्म-विद्या एक गुप्त कोष है, इस विद्या का भेद साधारण मंच से व्याख्यान द्वारा धूर्त लोगों के सामने नहीं खोलना चाहिये। इसे उन्हें ही देना चाहिये जो वास्तव में जानने की तीव्र अभिलाषा रखते हों। पुनः, "उसने निर्माण चित्त धारण किया"— यह सूचित करता है कि 'उसमें' ज्ञान सर्वदा व्यक्त अवस्था में नहीं रहता।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

मूलार्थ– काल द्वारा सीमाबद्ध न होने के कारण 'वह' सब प्राचीन गुरुओं का भी गुरु है–२६.

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एषः । पूर्वेषामपि गुरुः यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ २६ ॥

सब प्राचीन गुरु वास्तव में काल द्वारा सीमित हैं (क) । यह 'वह' है जिसको सीमित करने के लिये काल नहीं पहुंच सकता । जैसे सृष्टि के आदि में परम प्रमाण (वेद) द्वारा यह स्थापित किया गया है कि 'वह' सब प्राचीन गुरुओं का भी गुरु है, वैसे अतीत सृष्टियों के संबंध में भी 'उसे' ऐसा ही जानना होगा (ख) ।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

मूलार्थ— प्रणव (ॐ) 'उसका' वाचक (सूचक शब्द) है— २७,

तस्य वाचकः प्रणवः । वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति । स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबन्धः । संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थित-

ईश्वर प्रणव (ओं) का वाच्य है । अब क्या यह वाच्य-वाचक का संबंध शब्द-योजना में स्थित है या प्रदीप और प्रकाश की न्याई अन्तर्निहित है । वाच्य (ईश्वर) का संबंध वाचक (ओं) में अन्तर्निहित है (क) । पुनः शब्द-योजना केवल ईश्वर के अन्तर्निहित तत्त्व को ही

टि. सू. २६ यह सूत्र वेदान्त के 'अनन्तम्' को सूचित करता है । (क) इन तीन सूत्रों में ईश्वर-वर्णन के सौन्दर्य को एक विचारशील पुरुष बड़ी सुगमता से समझ सकता है । आओ, हम आधुनिक भारत के धार्मिक सम्प्रदायों की शोचनीय अवस्था को ध्यान से देखें । लोग दिन प्रतिदिन कितने ही ईश्वर बना रहे हैं । आधुनिक धार्मिक प्रचारक जनसाधारण के सामने कई नये मूर्तिमान ईश्वर खड़े करते हैं और अन्तःकरण में सावधानीपूर्वक पुष्ट की हुई कपट भावना को पूर्ण करने के उद्देश्य से ही प्रेस व मंच से चित्ताकर्षक लेख तथा मनोहारिणी वाणियों द्वारा उन्हें ईश्वर कह कर प्रचार करते हैं । ये सब आधुनिक धर्म-प्रवर्त्तक काल से सीमित तथा क्लेशादि से पीड़ित हुए देखे जाते हैं । अतः वे परम तत्त्व रूप ईश्वर कभी भी नहीं हो सकते । ऐसे धर्म-प्रवर्त्तकों के आने के फल स्वरूप ही भारत आज बहुत ही धार्मिक सम्प्रदायों में बांटा गया है । देश की स्वस्थ अवस्था का यह किसी प्रकार भी चिन्ह नहीं हो सकता । धार्मिक बातों में ऐसी विरुद्धता से हम चिरस्थायी शान्ति और उन्नति की आशा नहीं रख सकते (भ. गी. ४।८ की टिप्पणी देखो) । (ख) यह विभिन्न सृष्टियों में सृष्टिकर्त्ताओं के बदलने पर भी ईश्वर के ऐश्वर्य (वेद) के अपरिणामित्व (एक रस स्थिति) को सूचित करता है ।

टि. सू. २७ यह सूत्र वेदान्त के 'ब्रह्म' को सूचित करता है । (क) ईश्वर के निर्गुण रूप के बारे में यह संबंध अन्तर्निहित है अर्थात् 'माया' (आत्मख्यापन करने वाली शक्ति) के व्यक्त भाव के साथ कोई संबंध

मेवार्थमभिनयति । यथावस्थितः पितापुत्रयोः संबन्धः संकेतेनावद्योत्यते अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते ॥ २७ ॥

प्रकाश करती है (ख) । जैसे पिता व पुत्र के अन्तर्निहित संबंध को शब्दों द्वारा ही प्रकाश किया जाता है अर्थात् यह पिता है और यह पुत्र है। दूसरी सृष्टियों में भी वाच्य और वाचक शक्ति पर निर्भर करती हुई वही शब्द-योजना प्रयुक्त होती है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

मूलार्थ— इसका जप और इसके तत्व को प्रकाशित करना– २८.

संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते। विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः तज्जपस्तदर्थभावनम्। प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते। तथा चोक्तम्--

पूर्ण ज्ञान नित्य होने के कारण वैदिक आचार्यों ने शब्द और उसके अर्थ का संबंध नित्य कहा है। वाच्य-वाचक के मध्य संबंध को जानने वाले योगी के लिये इसका जप और इसके तत्त्व को क्रमशः खोलना अर्थात् प्रणव (ॐ) का जप और प्रणव द्वारा सूचित ईश्वर को प्रकाशित करना संभव होता है (क)। प्रणव का जप करने वाले तथा इसके तत्त्व को खोलने वाले योगी का चित्त एकाग्र होता है। इसलिये यह कहा गया है कि स्वाध्याय से योग (कर्म-पद्धति) पुष्ट होता है, योग (कर्म-संपादन) द्वारा स्वाध्याय दृढ़ किया जाता है

नहीं रखता। (ख) सगुण रूप के बारे में अर्थात् दृश्यमान जगत् के साथ संबंध रखता हुआ यह संबंध शब्दों द्वारा प्रकट होता है। उदाहरणार्थ— आदिरूप में पुत्र पिता में अन्तर्निहित है, परन्तु पुत्र उत्पन्न होने पर शब्द-योजना के बिना कोई भी उन दोनों के मध्य संबंध को नहीं जान सकता। अतः, प्रणव दोनों संबंधों (अन्तर्निहित व शब्द-योजना) को रखता है (अर्थात् पर और अपर ब्रह्म दोनों का द्योतक है) और सृष्टियों के बदलने पर भी यह नहीं बदलता।

सू. २८ इस सूत्र का अभिप्राय इस अध्याय के १७ वें सूत्र के साथ समानता रखता है। अर्थ यह है कि हाथ में माला लिये हुए तथाकथित भक्तों द्वारा केवल मन्त्रों का उच्चारण तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को उन्हें नहीं दिखा सकता, परन्तु इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये इस विद्या का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। कारण भाष्य के अनुसार 'जप' उसी के लिये सम्भव है जो वाच्य और वाचक के संबंध को जानता है। प्रणव के चार पद हैं--(१) जाग्रतावस्था अर्थात् 'अ' मात्रा, स्थूल व सूक्ष्मालंबन है। (२) स्वप्नावस्था अर्थात् 'उ' मात्रा करणग्राह्य प्रज्ञा को सूचित करती है। (३) सुषुप्ति अवस्था अर्थात् 'म' मात्रा अहंग्राह्य

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ इति ॥ २८ ॥

और स्वाध्याय तथा योग की सम्मिलित शक्ति से परमात्मा को प्रकाशित किया जाता है (ख)।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

मूलार्थ— इससे अन्तरात्मा की प्राप्ति और बाधाओं का अभाव- २९.

किं चास्य भवति ? ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुषस्तमधिगच्छति ॥ २९ ॥

और इसको क्या मिलता है ? इससे अन्तरात्मा की प्राप्ति और बाधाओं का अभाव हो जाता है। व्याधि आदि जितनी भी बाधायें हैं इन सब का अभाव ईश्वर पर प्रगाढ़ ध्यान से होता है और वह अपनी सत्यात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करता है। जिस प्रकार ईश्वर शुद्ध, निर्मल, निर्लिप्त तथा उपाधि रहित 'पुरुष' है वैसे ही योगी अपनी बुद्धि में प्रतिबिंबित द्रष्टा रूप अन्तरात्मा को पूर्णतया जान पाता है (क)।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

मूलार्थ— व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व- ये सब चित्तविक्षेप रूप बाधायें हैं- ३०.

अथ केऽन्तराया ये चित्तस्य विक्षेपाः ? पुनस्ते कियन्तो वेति ? व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि

अब ये बाधायें कौनसी हैं जो चित्त के विक्षेप हैं ? फिर ये संख्या में कितनी हैं ? व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन,

---

प्रज्ञा का द्योतक है और चौथी मात्राशून्य तुरीयातीत नामक अहं की परमावस्था है। अतः, यह प्रमाणित है कि प्रणवद्वारा सूचित तत्त्व-प्रकाशन की विधि यथाक्रम स्थूल, सूक्ष्म, करणग्राह्य और अहंग्राह्य प्रज्ञा है जैसे कि १७ वें सूत्र में वर्णन किया गया है (प्रश्नोपनिषद् के ५ वें प्रश्न को देखो)। (ख) इससे यह स्पष्ट है कि स्वाध्याय की सहायता बिना योग सफल नहीं होता। अतः यहां 'जप' शब्द केवलमात्र स्वाध्याय को ही सूचित करता है और यह स्वाध्याय अध्यात्मपथ में अग्रसर होने की विधि सहित क्रमबद्ध वैदिक संस्कृति का द्योतक है। इससे यह सिद्ध होता है कि शास्त्रविधि का पुनः पुनः चिन्तन तथा नियमानुसार कर्मसंपादन ही परमपद-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।

टि. सू. २९ (क) यहां भाष्यकार यह दिखाना चाहते हैं कि बाह्य सहायता (अपने से पृथक् स्थूलालंबन) द्वारा मुक्ति-पथपर अग्रसर होने वाले योगी को भी वही फल मिलता है जो अपनी सफलता के लिये अपनी शक्ति (अपने शरीर का स्थूलालंबन) पर निर्भर करने वाले योगी को प्राप्त होता है। विशद् अर्थ यह है कि इन दोनों को अपने अन्तरात्मा का साक्षात्कार होता है।

चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः । सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति एतेषामभावे न भवन्ति । पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः । तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम् । स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य । संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् । आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वाद्‌-प्रवृत्तिः । अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः । भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः । अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा । समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ ३० ॥

अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व—ये सब चित्तविक्षेप रूप बाधायें हैं। ये नौ बाधायें चित्तविक्षेप हैं। ये चित्तवृत्तियों के साथ उठतीं हैं। इन (चित्त-वृत्तियों) के अभाव में वे (बाधायें) नहीं उठतीं। चित्तवृत्तियों का वर्णन पहिले हो चुका है। यहां, धातु (वायु, पित्त व कफ), रस (खाया हुआ अन्न) और इन्द्रियों की विषम अवस्था व्याधि है। स्त्यान चित्त की अकर्मण्यावस्था है (अर्थात् जब चित्त किसी वस्तु को ग्रहण करने की रुचि रखते हुए भी उसे ग्रहण करने में असमर्थ होता है)। संशय वह ज्ञान है जो दो दिशाओं को लेकर रहे—यह ऐसे हो या ऐसे न हो। समाधि-साधनों के लिये खोज का अभाव प्रमाद है। भारीपन के कारण चित्त व शरीर के परिश्रम का अभाव ही आलस्य है। विषय-भोगार्थ चित्त का अतिलोभ अविरति है। भ्रान्तिदर्शन विपर्यय (उल्टा ज्ञान) है। समाधि अवस्था को न पहुंच पाना अलब्ध—भूमिकत्व है। लाभ की हुई भूमि में चित्त का न टिकना अनवस्थितत्व है, क्योंकि (अहंग्राह्य) समाधि प्रज्ञा प्राप्त करने पर ही यह अवस्थित (दृढ़) होता है। ये चित्त-विक्षेप योग की नौ अशुद्धि, योग के शत्रु और योग की बाधायें कही जाती हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

मूलार्थ— दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास विक्षेपों के साथी हैं- ३१.

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप-सहभुवः । दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम् । दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः । यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो

(शरीर और चित्तसंबंधीय) आध्यात्मिक कष्ट, (भूत-प्राणियों से प्राप्त) आधिभौतिक कष्ट या (देवताओं से प्रेरित) आधिदैविक कष्ट दुःख हैं जिनसे आघात पा कर भूतप्राणी उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। कामना की पूर्ति न होने के कारण चित्त में हलचल उत्पन्न होना दौर्मनस्य है। जो अंगों को कंपाता है अर्थात्

यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः। एते विक्षेपसहभुवः, विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥ ३१ ॥

हिलाता है, वह अङ्गमेजयत्व है। बाह्य वायु का अन्दर खींचने वाला प्राण श्वास है और भीतर की वायु को बाहर फेंकने वाला प्राण प्रश्वास है। ये विक्षेपों के साथी हैं। ये विक्षिप्त-चित्त में उठते हैं। जो समाधिस्थ है उसमें ये नहीं उठते (क)।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

मूलार्थ— उनको हटाने के लिये एक तत्त्व का अभ्यास- ३२.

अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह— तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत्। यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विक्षिप्तम्। यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्या-

समाधि के शत्रु रूप इन विक्षेपों को अभ्यास व वैराग्य रूप दो साधनों द्वारा निरोध करना होगा। इस संबंध में अभ्यास के विषय को उपसंहार करते हुए वे (सूत्रकार) कहते हैं कि उन (बाधाओं) को हटाने के लिये एक तत्त्व का अभ्यास। विक्षेपों के निवारणार्थ (योगी) चित्त को ऐसा बनाये कि वह एक ही तत्त्व पर निर्भर करे। जो यह कहता है कि चित्त प्रत्येक विषय के साथ स्थित है और केवल भावमात्र तथा क्षणिक है, उसके लिये तब सारे चित्त एकाग्र ही हैं और विक्षिप्त चित्त तो कभी होगा ही नहीं। दूसरी ओर, यदि इसे सर्व ओर से खींच कर एक ही

टि. सू. ३१ (क) समाधि संबंध में बहुतों की भ्रान्त-धारणा है। ये लोग केवल प्राणायाम को ही समाधि मानते हैं। प्राणायाम वास्तव में चित्त की एकाग्रता के लिये एक प्रारंभिक सहायक होता है, परन्तु यह स्वयं समाधि नहीं है (यो. सू. २।४९-५२)। मनुष्य के चित्त की अवस्था हम न भी समझ सकें परन्तु उसके शारीरिक चिन्ह हम समझ सकते हैं। इस भाष्य से यह स्पष्ट है कि चित्त को वश में किये हुए मनुष्य के अंग अवश्य ही स्थिर होंगे अर्थात् उसका आसन सिद्ध होगा और उसका श्वास सदा नासिका के अन्दर बहता रहेगा (भ. गी. ५।२७)।

इस भाष्य के आधार पर आओ हम उन आधुनिक योगियों वा ज्ञानियों के शारीरिक चिन्ह को विचारें जो असंख्य चेलों और नाना प्रकार के विज्ञापनों की सहायता से मुक्तात्मा के रूप में प्रचारित होते हैं। त्याग की ओट में भोगविलास में डूबे हुए उक्त प्रकार के मनुष्यों में क्या एक भी चिन्ह देखने को मिलता है? बहुत लोग योग को ज्ञान से कोई पृथक् वस्तु समझते हुए ज्ञानी का ढोंग रच लेते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि योग के बिना स्वतन्त्र रूप से ज्ञान का उदय नहीं हो सकता।

हत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम्।

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेन चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति। यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत्। अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्युपभोक्ता भवेत्। कथंचित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयन्यायमाक्षिपति। किं च स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति। कथं यदहमद्राक्षं

विषय में लगाया जाये तो तब ही यह एकाग्र होता है, अतः यह (चित्त) प्रत्येक विषय के साथ स्थित नहीं है।

फिर उसके संबंध में जो ऐसा मानें कि चित्त एक ही विचार-धारा से एकाग्र होता है (क), यदि उसकी एकाग्रता बहते हुए चित्त का धर्म (स्वभाव) हो तो बहते हुए चित्त के क्षणिक भाव के कारण वह एक नहीं हो सकता। यदि पुनः यह उस ज्ञान का धर्म (स्वभाव) हो जो भावधारा का अंश है—चाहे वह एक ही प्रवाह में बहे या पृथक् प्रवाह में बहे, तो चित्त प्रत्येक विषय के साथ स्थित होने के कारण सदा ही एकाग्र होगा, इसकारण विक्षिप्त चित्त के लिये कोई स्थान नहीं रहेगा। अतः, चित्त एक है, बहु विषयों के साथ रहता है और सदा विद्यमान है। यदि एक चित्त के साथ संबंधित न होते हुए स्वभाव से भिन्न भिन्न ज्ञान उत्पन्न हों तो एक चित्त द्वारा अनुभव किये हुए ज्ञान को दूसरा चित्त कैसे स्मरण करने वाला बन सकता है? तब कैसे एक चित्त दूसरे चित्त द्वारा संग्रह किये हुए कर्माशय का अनुसंगित (पीछे चलने वाला) भोक्ता बन सकता है? यदि किसी प्रकार से भी इसका समाधान किया जाये तो "गोबर और दूध" के न्याय का प्रसंग आ जाता है (ख)। इसके

टि. सू. ३२ (क) आजकल वेदान्त-दर्शन के अन्ध अनुगामी तथाकथित दार्शनिकों का भी यही मत है कि चित्त की एकाग्रता एक ही विचारधारा में है। वे यह मानते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य का अर्थ केवल चिन्तन करना ही चित्त की एकाग्रता है। भाष्य से यह स्पष्ट है कि वेदान्त-दर्शन के विषय-संबंध में उन्हें कोई ठीक ज्ञान नहीं है। दूसरी ओर, वे लोग जो मानसिक स्थिरता और सुखानुभव करते हैं वे अनुभव केवल तमोगुण से ही उत्पन्न हुए माने जाते हैं (भ. गी. १८। ३५, ३९)।

(ख) इससे भाष्यकार चित्त के बहुत्व अर्थात् क्षणिक विज्ञानवाद का खंडन करते हैं। वे न्यायशास्त्र के एक हेत्वाभास (भ्रमपूर्ण युक्ति) का दृष्टांत देते हैं यथा "दूध गाय से आता है, गोबर भी गाय से आता है; अतः गोबर और दूध एक ही है"। यही दशा उनकी भी होगी जो चित्त के बहुत्व द्वारा क्षणिक विज्ञानवाद का समाधान करने की चेष्टा करते हैं।

तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्याम्यहमितिप्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः? एकप्रत्ययिविषयोऽयमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः। कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानं सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्। स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्मा अहमितिप्रत्ययः। न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते। प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम॥ ३२॥

अतिरिक्त चित्त के बहुत्व पर अपने अनुभव के अस्तित्व को अस्वीकार करना पड़ता है। जो मैंने देखा था उसे मैं छूता हूं, जो मैंने छुआ था उसे मैं देखता हूं इत्यादि सब प्रकार के ज्ञानों की विभिन्नता होने से जानने वाले में "मैं पन" का ज्ञान कैसे अभेद स्वभाव वाला रह सकता है? अभेद-स्वरूप वाले इस "मैं पन" का ज्ञान एक ही जानने वाले का विषय है। अत्यन्त विभिन्न चित्तों में यह (मैं पन) कैसे एक ही सामान्य तथा निरन्तर जानने वाले के आश्रय में रह सकता है? पुनः इस अभेद-स्वरूप वाले 'मैं पन' का ज्ञान अपने ही अनुभव द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्ष का बल प्रमाण (सत्यज्ञान) के किसी दूसरे उपाय द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता। प्रमाण के दूसरे उपाय केवल प्रत्यक्ष के बल से ही अपने कार्य में समर्थ होते हैं। अतः चित्त एक ही है, अनेक विषयों को रखता है तथा सदा विद्यमान है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख-दुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ ३३॥

मूलार्थ— सुख के विषय में मित्रभाव, दुःख के विषय में करुणा, पुण्य के विषय में हर्ष और पाप के विषय में उदासीनता को बढ़ाने से चित्त की स्वच्छता आती है- ३३

यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम्? मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं

सदा विद्यमान चित्त की शुद्धि इस शास्त्र द्वारा किस प्रकार कही गयी है? सुख के विषय में मित्रभाव, दुःख के विषय में करुणा, पुण्य के विषय में हर्ष और पाप के विषय में उदासीनता को बढ़ाने से चित्त की स्वच्छता आती है। सुखभोग में लगे हुए सब भूत प्राणियों के प्रति (महाव्रत का) योगी मित्रभाव को बढ़ाये, दुःखी जीवों के प्रति करुणा, पुण्यवानों के प्रति हर्ष और पापियों के प्रति उदासीनता को बढ़ाये। इस रीति से ऐसी

भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति। प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ ३३ ॥

संस्कृति में लगे हुए योगी को शुक्ल धर्म प्राप्त होता है। आगे, चित्त इससे स्वच्छ होता है, स्वच्छ चित्त एकाग्र होता है और इससे दृढ़ स्थिति लाभ करता है (क)।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

मूलार्थ-- अथवा प्राण के रेचक (बाहर फेंकना) और कुम्भक (अन्दर रोकना) से-- ३४.

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं प्राणायामस्ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत् ॥ ३४ ॥

विशेष प्रयत्न द्वारा नथुनों से फेफड़ों की वायु को बाहर फेंकना रेचक है, कुम्भक प्राणायाम है। एक पक्षान्तर उपाय के रूप में इन दोनों द्वारा योगी मन की स्थिति प्राप्त करे (क)।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

मूलार्थ— और विषयानंद की न्याईं आन्तरिक अनुभव उत्पन्न होकर मन की दृढ़ता का कारण होता है— ३५.

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी। नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः। जिह्वाग्रे रससंवित्। तालुनि रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। जिह्वामूले शब्दसंविदित्येताः प्रवृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्तीति।

नासिका के अग्र भाग पर ध्यान करने वाले योगी को जो दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है, वह गन्धानुभव है। जिह्वा के अग्र भाग पर रस-ज्ञान, तालु पर रूप-ज्ञान, जिह्वा के मध्य पर स्पर्श-ज्ञान और जिह्वा के मूल पर शब्द-ज्ञान आदि आन्तरिक अनुभव उत्पन्न होकर चित्त को दृढ़ता में बांधते हैं, संशय को दूर करते हैं और समाधि-प्रज्ञा के प्रवेश-मार्ग बन जाते हैं।

टि. सू. ३३ (क) इन प्राथमिक गुणों की वृद्धि किये बिना कोई भी मनुष्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। केवल शास्त्रीय ज्ञान और शरणागति का ढोंग मनुष्य को पुनर्जन्म रूप चक्र से नहीं बचा सकता।

टि. सू ३४ (क) दूसरे अध्याय में वर्णित प्राणायाम-विधि से यह सूत्र कोई पृथक् अभिप्राय नहीं रखता, क्योंकि वहां भाष्यकार ५२ वें सूत्र को पुष्ट करने के लिये इस सूत्र का उल्लेख करते हैं। अतः यह निश्चित है कि यह प्राणायाम स्वयं समाधि नामक लक्ष्य-स्थल नहीं है, परन्तु मैत्री आदि उक्त चार सद्गुणों की प्राप्ति के लिये चित्त-शुद्धि का एक पक्षान्तर उपाय है।

एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या ।

इससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप आदि की ज्योतियों में चमकते हुए आन्तरिक अनुभव को विषयानंद की न्याईं समझना होगा (क)।

यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति । एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति । तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः ।

यद्यपि शास्त्र, अनुमान और आचार्यों के उपदेश से जिन जिन वस्तुओं का ज्ञान हुआ है उन सब के तत्त्व का अस्तित्व वास्तव में निश्चयपूर्वक है, कारण, वे अपने अपने तत्त्व को स्थापित करने की शक्ति रखते हैं, तथापि जब तक अपनी इन्द्रियों द्वारा कोई एक अंश भी देखा न जाये तब तक वे सब अनिश्चित से रहते हैं और अपवर्ग (मोक्ष) आदि सूक्ष्म विषय में वे दृढ़ विश्वास उत्पन्न नहीं करा सकते। इसलिये शास्त्र, अनुमान और आचार्य (ख) के उपदेशों को दृढ़ करने के लिये तत्त्व का कोई विशेष अंश अवश्य ही प्रत्यक्ष करना होगा। इस प्रसंग में उनसे सिखाये गये तत्त्व के किसी अंशानुभव द्वारा मोक्ष सहित सूक्ष्म अंश पर भी पूर्ण ध्यान दिया जाता है

टि. सू. ३५ इस सूत्र के उपदेश को चित्त-शुद्धि का पक्षान्तर उपाय नहीं मानना होगा, क्योंकि वैकल्पिक उपायों के सूचक अन्य सूत्रों की न्याईं इस सूत्र को पांचवी विभक्ति में नहीं रखा गया। अतः, इस उपदेश को पालन करने के लिये सब लोग बाध्य हैं। (क) यहां भाष्यकार उस योग-ज्योति का वर्णन कर रहे हैं जो स्थूलालंबन में से गुज़रने पर योगी को पहिले ही प्राप्त होती है। इस दृश्यमान जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसकी तुलना उस ज्योति के साथ हो सके। यह ज्योति योगी के चित्त क्षेत्र में भोग्य विषय के आकार में उदय होती है। इस स्थिति में योगी प्रज्ञा-दृष्टि लाभ करता है अर्थात् उसका तीसरा नेत्र खुल जाता है जिससे वह इस ज्योति को ग्रहण करने में समर्थ होता है। (ख) अपनी दृष्टि, बन्दूक के अग्र भाग का चिन्ह तथा निशाना—इन तीनों को एक ही रेखा में लेता हुआ बन्दूक चलाने वाला अपने लक्ष्य को भेद कर सकता है। इसी प्रकार शास्त्र, अपना चित्त और आचार्य का उपदेश—इन तीनों की समष्टि ही यथायोग्य सफलता का कारण होती है। पुनः "शास्त्र" शब्द प्रथम स्थान में रखे जाने के कारण वेदशास्त्रों का द्योतक है और उनकी परम प्रमाणिकता को सूचित करता है। वैदिक संस्कृति का अभाव ही आज हमारे अधःपतन का कारण है। न तो इन्द्रियपरायण स्वार्थी गुरु पूर्ण विज्ञान को यथाविधि सिखाते हैं और न ही अपने पापपूर्ण धन से ईश्वर को पाने की इच्छा वाले तथा अध्यात्मविज्ञान को संक्षेप में अर्थात् रामायण को एक और गीता को पांच श्लोकों में जानने की इच्छा वाले आलसी शिष्य इस महान् उद्देश्य के लिये यथा योग्य प्रयत्न करते हैं तथा न ही कोई ऐसा शास्त्र है जो सम्प्रदायवादियों द्वारा अपने अपने पक्षपाती दृष्टिकोणों से मूल श्लोकों के गलत अर्थ लगा कर दूषित न किया हुआ

तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सूक्ष्मविषयमपि आ अपवर्गाच्छ्रद्धीयते । एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते । ग नियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति । तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

(ग) । इसी उद्देश्य से ही चित्त-शुद्धि का विधान किया गया है। वश में न की हुई (चित्त) वृत्तियों पर जब अपने कार्य-क्षेत्र के संबंध में वश करने वाला मनोबल उत्पन्न होता है, तब उस उस तत्त्व को प्रत्यक्ष करने के लिये चित्त समर्थ होता है। ऐसा होने से श्रद्धा, वीर्य, धारणा-शक्ति, समाधि और प्रज्ञा-दृष्टि उसे बिना किसी बाधा के प्राप्त होती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

मूलार्थ— और दुःख से रहित तथा ज्योतिष्मती अवस्था का उदय— ३६.

विशोका वा ज्योतिष्मती। प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिन्यनुवर्तते । हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंविद् बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथास्मितायां समापन्नं

(पूर्ववर्ती सूत्र)— "विषयानंद की न्याईं आन्तरिक अनुभव उत्पन्न होकर मन की दृढ़ता का कारण होता है—" के साथ (यह सूत्र) "और दुःख से रहित तथा ज्योतिष्मती अवस्था का उदय" पढ़ने से अर्थ पूर्ण होता है। हृदय-कमल (क) पर ध्यान करने वाले योगी को जो बौद्धिक ज्ञान (ख) होता है वह वास्तव में आकाश की न्याईं ज्योतिर्मय बुद्धिसत्त्व है। चित्त वहाँ (उस सत्त्व में) दृढ़तापूर्वक स्थित होने से उसके आन्तरिक अनुभव को सूर्य, चन्द्र, ग्रहों और मणियों की ज्योति के आकार में माना जाता है (ग)। उसी प्रकार से चित्त अस्मिता में रूपान्तरित होकर तरंगहीन महासागर की न्याईं शान्त और

हो। तब कैसे हम पूर्ण सफलता की आशा कर सकते हैं? (ग) भाष्यकार पहिले ही दो प्रकार की समाधि वर्णन कर चुके हैं। सम्प्रज्ञात समाधि नामक प्रथमांश के आनन्द को विषयानंद की न्याईं आन्तरिक अनुभव के रूप में मानना होगा। यही विशेष अंश है अर्थात् 'वस्तु' नामक नित्य तत्त्व का बाह्य रूप है। समाधि-प्रज्ञा का सूक्ष्मांश असंप्रज्ञात समाधि है जिसे वेदान्त-दर्शन का विषयरूप कारण-विमुक्ति कहा जाता है।

टि. सू. ३६ इस अध्याय के १७ वें सूत्र में वर्णित यथाक्रम (क) स्थूल, (ख) सूक्ष्म, (ग) कारणग्राही

चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्- 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीति एवं तावत्संप्रतिजानीत इति।'

अनन्त शुद्ध-अस्मिता बन जाता है (ख)। इस संबंध में यह कहा गया है कि योगी उस अणुमात्र आत्मा (ङ) को पहिचान कर विकास को इस प्रकार पूर्णतया जानता है कि "मैं सब हूं"।

एषा द्वयी विशोकाविषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते। यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥ ३६॥

दुःख रहित विषयानंद की न्याईं आनन्द और शुद्ध-अस्मिता नामक दो प्रकार के आन्तरिक अनुभव ज्योतिष्मती (स्थिति) कहलाते हैं जिससे योगी का चित्त दृढ़स्थिति को लाभ करता है।

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ ३७॥

मूलार्थ— और चित्त सम्पूर्ण आसक्तिशून्य क्षेत्र वाला बन जाता है— ३७.

वीतरागविषयं वा चित्तम्। वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥ ३७॥

और सम्पूर्ण आसक्ति शून्य भावधारा के आलंबन से रंगा जाकर योगी का चित्त दृढ़ स्थिति को लाभ करता है (क)।

और (घ) अहंग्राह्य समाधिप्रज्ञा है। (ङ) कई लोगों का यह विचार है कि सिद्धान्तों में भिन्नता रहने के कारण न्याय-शास्त्र वेदान्त-दर्शन के विरुद्ध है। न्याय के सिद्धांतानुसार अणु नित्य है परन्तु वेदान्त "भूमा" (ब्रह्म) को नित्य मानता है। एक बुद्धिमान् वैज्ञानिक छात्र यह विधि और इसका तत्त्व सुगमतापूर्वक समझ सकता है कि जल का अणुसंबंधीय गैसाकार कैसे जल की सब कठिन और तरल अवस्थाओं से महान् शक्तिशाली तथा सर्वव्यापी होता है और कैसे अल्टरा-ऐक्स-रे का आलोक दूसरे आलोकों से अधिकतर शक्ति रखता है। यह सब को विदित है कि 'द्रव्य' जितना जितना सूक्ष्म होगा, उतना उतना ही वह अधिक शक्तिशाली तथा व्यापक होता जायेगा।

टि. सू. ३७ (क) भाष्य में ऐसा कोई भी शब्द नहीं जो यह सूचित करे कि योगी अपने चित्त को किसी विषयविशेष में लगाये तथा उस पर ध्यान करे। दूसरी ओर, हम देखते हैं कि चित्त आप ही आप इस प्रकार के आलंबन में रूपान्तरित तथा उसके रंग से रंगा जाता है। पुनः "चित्त" शब्द पांचवीं विभाक्ति में प्रयुक्त नहीं हुआ है; अतः यह स्पष्ट है कि यह सूत्र किसी पक्षान्तर उपाय को सूचित नहीं करता, परन्तु यह विषयानंद की न्याईं आन्तरिक अनुभव नामक चित्त-शुद्धि के प्रसंग में है। एक साधारण मनुष्य अपने को पदतल से शिर तक बाह्य शरीर परिमित मानता है, परन्तु जब योगी करणग्राह्य और अहंग्राह्य समाधि-प्रज्ञा नामक संप्रज्ञात-समाधि के तीसरे और चौथे पद में पहुंचता है तब ही वह अपनी सत्ता को शरीर से सम्पूर्ण पृथक् देखता है। दूसरे शब्दों में, वह सदा ही अपने को शरीर से सम्पूर्ण असंग देखता है। यही सम्पूर्ण आसक्ति शून्य भावधारा कहलाती है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

मूलार्थ— और स्वप्न व निद्रा के ज्ञान का आलंबन— ३८.

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

स्वप्नज्ञान का आलंबन और निद्राज्ञान का आलंबन लेता हुआ योगी का चित्त उन्हीं आकारों में तद्रूप हो जाता है तथा दृढ़ स्थिति लाभ करता है (क)।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

मूलार्थ— अथवा अपने चुनाव पर ध्यान से— ३९.

यथाभिमतध्यानाद्वा। यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥ ३९ ॥

जो भी उसकी पसंद हो योगी उसी पर ध्यान करे। चित्त वहां स्थिरता प्राप्त करके अन्य स्थानों में भी दृढ़ स्थिति लाभ करता है (क)।

टि. सू. ३८ (क) यह सूत्र भी पांचवीं विभक्ति में प्रयुक्त नहीं हुआ, इसलिये वैकल्पिक उपायों के साथ इसका कोई संबंध नहीं है। दूसरी ओर यह प्रथमा विभक्ति में रखा गया है, अतः यह स्पष्ट है कि "चित्त" शब्द को पूर्ववर्ती सूत्र से लेकर यहां लगाना होगा। भाष्य भी इसी भाव को सूचित करता है। यह दसवें सूत्र में स्थापित हो चुका है कि निद्रा भी बहिर्मुखी चित्त–वृत्ति के संबंध में एक विशेष प्रकार का ज्ञान (अर्थात् अभाव रूप ज्ञान का आलंबन) है और अन्य सब वृत्तियों की न्याईं इसका भी निरोध करना पड़ेगा।

एक साधारण मनुष्य जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं को क्रमशः भोगता है, परन्तु योगी इन अवस्थाओं को केवल जाग्रत स्थिति में ही अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था उसके साक्षात् अनुभव का विषय बन जाती है। वह एक एक करके इन अवस्थाओं के पार जाता है। ये संप्रज्ञात समाधि की यथाक्रम करणग्राह्य और अहंग्राह्य प्रज्ञा हैं। अतः योगी सब अवस्थाओं का द्रष्टा बन जाता है और धीरे धीरे असंप्रज्ञात समाधि नामक बुद्धि-वृत्ति के पार पहुंचता है। मैं अपने पाठकों से बार बार कहता हूं कि वे इन शब्दों के बाह्याकार से भ्रमित न हों। संप्रज्ञात-समाधि के उन्हीं चार विभागों का वर्णन हुआ है और आगे चल कर विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न नामों तथा भिन्न भिन्न प्रणालियों द्वारा इनका वर्णन होगा।

टि. सू. ३९ (क) मेरे बुद्धिवादी मित्र अपनी अपनी बुद्धि पर खूब गौरव रखते हैं। ये अपने ही विचारों को महत्त्व देते हुए अध्यात्म-विद्या के दोषदर्शन में सदा ही तत्पर रहते हैं। यदि वे ईश्वर को प्रत्यक्ष करना अथवा उन्हें अपने सामने देखना चाहते हैं तो उनसे मैं अनुरोध करता हूं कि वे प्रथमतः चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करें। इस विषय में सफलता प्राप्त करने के लिये उन्हें अपने मन को किसी ऐसी स्थूल मूर्ति में लगाना होगा जो उनके लिये अति चित्ताकर्षक हो– चाहे वह मूर्ति उनके पिता, माता, भाई अथवा स्त्री अथवा किसी कुत्ते या बिल्ली की भी हो। यदि वे ऐसा कर सकें तो भगवान् की कृपा

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

मूलार्थ— अणु से भी अणु और महान् से भी महान् के अन्त पर उसका वश रहता है—४०.

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः। सूक्ष्मे निविशमानस्य परात्परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति। स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य। एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतीघातः स परो वशीकारस्तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति ॥ ४० ॥

सूक्ष्म में प्रवेश करते हुए योगी का चित्त अणु से भी अणु के अन्त में दृढ़ स्थिति लाभ करता है। स्थूल में प्रवेश करता हुआ उसका चित्त महान् से भी महान् के अन्त में दृढ़ स्थिति प्राप्त करता है। अतः, इन दोनों अन्तों के पीछे चलती हुई यह अनिवार्य शक्ति ही परमवश है। इस निग्रह से परिपूर्ण योगी का चित्त, पुनः अभ्यास द्वारा की जाने वाली अन्य शुद्धियों की अपेक्षा नहीं रखता (क)।

से मैं पूर्ण साहस के साथ उन्हें विश्वास दिलाता हूं कि वे भगवान् को अपने सामने अवश्य ही देखेंगे। तब यदि वे अपनी उद्देश्य-प्राप्ति में असफल रहें तो जितना भी भारी दंड वे मुझे देना चाहें, मैं लेने के लिये सदा ही तैयार हूं।

टि. सू. ४० (क) एक ही बिन्दु की सहायता से एक सरल रेखा नहीं खींची जा सकती, कम से कम दो स्थिर बिन्दुओं की आवश्यकता होती है। इसीप्रकार, केवल अपने मन की सहायता से हम कभी भी सत्य पथ का निर्णय नहीं कर सकते। मन की तृप्ति के लिये ही सब कुछ किये जाने के कारण यद्यपि मन एक स्थिर बिन्दु है, तथापि इसका कार्य बिल्कुल उल्टा रहता है अर्थात् सत्य को असत्य और असत्य को सत्य दिखाना ही इसका व्यापार है (यो. सू. २।५)। इसलिये, इसे एक दूसरे स्थिर बिन्दु के साथ जोड़ना पड़ेगा और वह बिन्दु एकमात्र वेदशास्त्र ही है, क्यों कि इस अध्याय के सातवें व चौब्बीस से छब्बीसवें सूत्र में इनकी परम प्रामाणिकता पहिले ही स्थापित हो चुकी है। सेवा और धन के बदले में अन्धे अनुगामियों की मुक्ति का ठेका लेने वाले व्यवसायी गुरु यह जान कर मुझ पर क्रुद्ध हो सकते हैं कि मैं उनके उस उच्चासन को तोड़ रहा हूं जो दीर्घकाल से अफ्रीका के घने जंगल तथा मरु भूमि के साथ तुलना किये गये वेदशास्त्रों के भयंकर स्वरूप के वर्णनपूर्ण काल्पनिक कहानियां तथा व्यर्थ चित्ताकर्षक श्लोकों के बल से महा यत्न द्वारा रक्षित किया हुआ है। अवश्य, मैं ऐसे नीच स्वार्थी तथा पाखंडी साम्प्रदायिकों का विरोधी हूं, परन्तु इस क्रमबद्ध विज्ञान को निरपेक्ष भाव से सिखाने वाले गुरुओं के चरणों में मैं सदा ही अपने शिर को रखता हूं। ऐसे आचार्य सदा ही आदरणीय हैं और उनकी सहायता निर्दोष प्रगति के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

मेरे मित्रों से अनुरोध किया जाता है कि वे इस सूत्र के आधार पर अपने मानसिक झुकावको देखें और निर्णय करें कि मोक्षदायक योग के लिये वे कहां तक योग्यता रखते हैं।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः ॥ ४१ ॥

मूलार्थ— (बहिर्मुखी) वृत्ति शून्य चित्त की तद्रूपता (समापत्ति) एक उच्च जातीय स्फटिक मणि की न्याईं उस रंग को धारण करती है जिसका आश्रय यह (चित्त) ग्रहीतृ (कर्त्ता), ग्रहण (अन्तःकरण) और ग्राह्य (विषय) के संबंध में लेता है-- ४१.

अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति ? तदुच्यते क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः। अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम्। यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति।

स्थिति लाभ किये हुए चित्त का स्वरूप और उसकी (क्रियात्मक) तद्रूपता (समापत्ति) का क्षेत्र क्या है ? वह अब वर्णन किया जा रहा है– (बहिर्मुखी) वृत्तिशून्य चित्त की तद्रूपता (समापत्ति) एक उच्च जातीय स्फटिक मणि की न्याईं उस रंग को धारण करती है जिसका आश्रय यह (चित्त) ग्रहीतृ (कर्त्ता), ग्रहण (अन्तःकरण) और ग्राह्य (विषय) के संबंध में लेता है। " वृत्ति शून्य चित्त " उस चित्त को सूचित करता है जिसकी (बहिर्मुखी) वृत्तियों का दमन हो चुका है। " उच्च जातीय स्फटिक मणि " को एक दृष्टांत रूप में लिया गया है। जिस प्रकार एक उच्च जातीय स्फटिक मणि विभिन्न विषयों की समीपता के कारण उन उन रंगों में रंगी जाकर उस समीप आश्रय के आकार में ही चमकती है, उसी प्रकार ग्राह्यालंबन के रंग में रंगा जाकर चित्त उसी में तद्रूप हो कर ग्राह्य स्वरूप के आकार में भासता है (१)। इसी प्रकार, भूतों के सूक्ष्म तत्त्व में रंगा जा कर और उसी में तद्रूप होता हुआ भूतों के सूक्ष्म तत्त्व के स्वरूप में प्रकाशित होता है (ख)। उसी प्रकार, स्थूलालंबन में रंगा हुआ हो कर और उसी में तद्रूप होता हुआ स्थूल रूप में प्रकाशित होता है (क)। इसी प्रकार, विश्वभेद में रंगा जा कर और उसी में तद्रूप होता हुआ

टिः सू. ४१ (१) यहां "ग्राह्य विषय (आलंबन)" को दूसरे अध्याय के १९ वें सूत्र तथा तीसरे अध्याय के १३ वें सूत्र में वर्णन किये गये परिणामों के क्रमिक पदों सहित 'वस्तु' समझना होगा। पुनः (क), (ख),

तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति। तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति।

तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम्। ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासत इति। तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते॥ ४१॥

विश्व-भेद के आकार में भासता है (ग)। ग्रहण अर्थात् इन्द्रियों के बारे में भी इसे इसी तरह जानना होगा (घ), ग्रहणालंबन में रंगा जा कर और उसी में तद्रूप हो कर ग्रहण (अन्तःकरण) के आकार में प्रकाशित होता है। इसीतरह, ग्रहीतृ-पुरुष के आलंबन में रंगा जा कर और उसी में तद्रूप हो कर "ग्रहीतृ पुरुष" के आकार में चमकता है (ङ)। इसी प्रकार, "मुक्त पुरुष" के आलंबन में रंगा जा कर और उसी में तद्रूप हो कर 'मुक्त पुरुष' के स्वरूप में भासता है (च)। अतः, एक उच्च जातीय स्फटिक मणि की न्याईं चित्त की ग्रहीतृ (कर्त्ता), ग्रहण (अन्तःकरण) और ग्राह्य (विषय) अर्थात् 'पुरुष', इन्द्रियां और भूतों के संबंध में जो उस उस आलंबन में रंग-प्राप्ति और उसी में तद्रूपता है, वही (क्रियात्मक) चित्तसमापत्ति कहलाती है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

मूलार्थ— वहां, "मानी हुई" (वितर्क) चित्तसमापत्ति शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प के साथ मिश्रित है-४२.

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम्। विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये विज्ञानधर्मा इत्येषां विभक्तः पन्थाः।

यह इस प्रकार है यथा 'गाय' एक शब्द, 'गाय' एक अर्थ और 'गाय' एक ज्ञान के रूप में यद्यपि एक दूसरे से पृथक् हैं तथापि उनका ग्रहण अपृथक् रूप में देखा जाता है। विभाग करने पर शब्द का धर्म पृथक्, अर्थ का धर्म पृथक् और ज्ञान का धर्म पृथक् होता है, यही इनका विभाजित पथ है (क)।

(घ), और (ङ) चिन्ह यथाक्रम स्थूल, सूक्ष्म, करणग्राह्य और अहंग्राह्य प्रज्ञा के रूप में संप्रज्ञात समाधि के चार क्रमिक पदों को सूचित करते हैं। (ग) चिन्ह विशेष-गुणपर्व के चेतन व अचेतन विषयों को सूचित करता है और (च) चिन्ह असंप्रज्ञात-समाधि-प्रज्ञा का द्योतक है।

टिं:सू. ४२ (क) 'शब्द,' 'अर्थ' और 'ज्ञान'— ये प्रमाण (सत्यज्ञान) के तीन उपायों को सूचित करते हैं। इस अध्याय के सातवें सूत्र में इन्हें यथाक्रम 'आगम', 'प्रत्यक्ष' और 'अनुमान' के नाम

तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ।

वहां चित्त-समापत्ति युक्त योगी की समाधि-प्रज्ञा में उपस्थित जो गाय आदि अर्थ है वह यदि शब्द, ज्ञान और अर्थ के विकल्प सहित मिला हुआ रहे तो उसी चित्त-समापत्ति को सवितर्क अर्थात् मानी हुई कहा जाता है (ख)।

यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते सा च निर्वितर्का समापत्तिस्तत्परं

जब फिर शब्दयोजना संबंधीय धारणा-शक्ति की पूर्ण शुद्धि होने पर शब्द और अनुमान ज्ञान के विकल्प से शून्य जो 'अर्थ' समाधि-प्रज्ञा में अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता हुआ अपने स्वरूप के शुद्धाकार से विशिष्टता रखता है, तब यह (समाधि) निर्वितर्का (स्वच्छ दृष्टि वाली) चित्त-समापत्ति कहलाती है (ग)। यही परम प्रत्यक्ष है और यही शब्द तथा अनुमान ज्ञान का बीज है। शब्द और अनुमान ज्ञान उसी परम प्रत्यक्ष से उत्पन्न होते हैं। पुनः यह 'दर्शन'– शब्द और अनुमान ज्ञान के साथ नहीं

से कहा गया है। वेदान्तदर्शन में इससे अतिरिक्त और जो तीन उपाय माने गये हैं, वे अवश्य करके अनुमान की कोटि में ही आ जाते हैं।

(ख) शब्दों की केवल बाह्य भिन्नता हमारे भ्रम का कारण नहीं बननी चाहिये। वही चार प्रकार की निरोध-वृत्ति विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न नामों तथा भिन्न भिन्न उपायों से वर्णन की जा रही है। यह विषय इस अध्याय के १७ वें सूत्र में वर्णित अभ्यास के चार क्रमिक पदों के संबंध में लिया गया है। वही, २० वें सूत्र में प्रणव के तत्त्व को खोलनेकी चार मात्रा वाली विधि है। वही विषय ३५–३८ वें सूत्र में चित्तशुद्धि के प्रसंग में आता है। वही ४१ वें सूत्र में क्रियात्मक तद्रूपता है। पुनः भाष्यकार उसी विषय को ४२–४४ सूत्र में समाधि–प्रज्ञा की कोटि में वर्णन करते हैं। अन्त में, ४६ वें सूत्र में भाष्यकार यह कह कर इस विषय का उपसंहार करते हैं कि सबीज (संप्रज्ञात) समाधि-प्रज्ञा केवल चार प्रकार की है। सवितर्क चित्त-समापत्ति के बारे में योगी की समाधि-प्रज्ञा किसी स्थूलाकार में उदय होती है, क्योंकि उस समय केवल स्थूल मूर्ति ही उसके ध्यान का एकमात्र लक्ष्य होती है। अतः हरि, राम, गाय, घोड़ा, वृक्ष, घट इत्यादि भिन्न भिन्न शब्द उसे सुनाये जाने पर उसकी चित्तवृत्ति बदलती रहती हैं। (ग) भाष्य का यह भाग अगले सूत्र का मुखबन्ध है। इस स्थिति में योगी का चित्त बाहिर्मुखी संस्कारों का निरोध करता हुआ निरोधमुखी वृत्ति में प्रवेश करता है तथा समाधि-प्रज्ञा की सूक्ष्म ज्योति को प्राप्त करता है। इस वृत्ति के उदय होने के पहिले चित्त केवल बहिर्मुखी व्यापारों में ही रहता है, परन्तु इस दिव्य ज्योति के उदय होने पर योगी प्रज्ञादृष्टि लाभ करता है और वह किसी भी उपाय से भ्रमित नहीं होता। तत्कारण, इस दृष्टि को परम प्रत्यक्ष (पूर्ण निश्चय) के नाम से कहा गया है। यह पूर्ण निश्चय उन तथाकथित वेदान्तियों का हठ धर्म नहीं है जो केवल वेदान्त के साम्प्रदायिक मतवादों

प्रत्यक्षम्। तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम्। ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः। न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम्। तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति ॥ ४२ ॥

रहता। अतः, स्वच्छ दृष्टि वाली समाधि से उत्पन्न योगी का दर्शन सत्य ज्ञान के किसी अन्य उपाय (शब्द और अनुमान) के साथ मिला हुआ नहीं होता (घ)।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

मूलार्थ— धारणा-शक्ति की पूर्ण शुद्धि होने पर अपने रूप से शून्य की न्याईं केवलमात्र अर्थ (तत्त्व) का उदय स्वच्छ दृष्टि वाली (निर्वितर्का) समापत्ति (तद्रूपता) है- ४३.

निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते— स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञास्वरूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा तदा निर्वितर्का समापत्तिः। तथा च व्याख्यातम्।

इस स्वच्छ दृष्टि वाली चित्त-समापत्ति का लक्षण इस सूत्र में दिखाया जा रहा है— धारणा-शक्ति की पूर्ण शुद्धि होने पर अपने रूप से शून्य की न्याईं (क) केवल अर्थ (तत्त्व) का उदय स्वच्छ दृष्टि वाली चित्त-समापत्ति है। शब्दों द्वारा सूचित सुने हुए और अनुमान किये हुए ज्ञान की विकल्प संबंधीय धारणा-शक्ति की पूर्ण शुद्धि होने पर ग्राह्य पदार्थ के स्वरूप से रंगी हुई जो प्रज्ञा अपने रूप को त्यागी हुई सी अर्थात् ग्रहण स्वभाव वाले प्रज्ञारूप स्वरूप को त्याग देती हुई शुद्धतत्त्व के आकार वाले ग्राह्य पदार्थ के स्वरूप में तद्रूप हो जाती है, वही तब स्वच्छ दृष्टि वाली चित्त-समापत्ति कहलाती है। और (पूर्ववर्ती सूत्र में) इसका वर्णन इसीप्रकार हो चुका है।

को ही पढ़ते हैं अथवा वेदान्त-दर्शन के शास्त्रीय तर्कों को जान कर ‘अहं ब्रह्मास्मि’ (मैं ब्रह्म हूं) की कल्पना करके अहंकारी बन जाते हैं। (घ) उत्तरवर्ती सूत्र से संयुक्त हो कर यह सूत्र प्रणव के ‘अ’ मात्रा के अभ्यास को सूचित करता है और यही स्थूल-सूक्ष्म प्रज्ञा तथा गीता का ‘अधिभूत’ रूप है।

टि. सू ४३ (क) इस समापत्ति में ध्येय पदार्थ का स्थूल रूप छूट कर राम, श्याम, गाय, घटादि सारे स्थूल पदार्थों का अन्तर्निहित तत्त्व रूप सूक्ष्म प्रज्ञा उदय होती है। यहां चित्त बहिर्मुखी संस्कार को छोड़ता हुआ प्रज्ञा-दृष्टि रूप प्रबल निरोध संस्कार में प्रवेश करता है। चित्तभूमियों का प्रसंग ले कर यह पहिले सूत्र में वर्णित हो चुका है कि एकमात्र चित्त ही सृष्टि के सारे क्रमिक पदों में से गुजरता है। यह चित्त-समापत्ति चित्त की एकाग्र वृत्ति रूप चौथी भूमि का पहिला पद है, इसलिये ‘इव’ (हुई सी) शब्द का प्रयोग हुआ है (कारण, स्थूलालंबन रूप प्रथम स्वरूप को त्याग कर चित्त पहिले न देखी हुई सूक्ष्म-

तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्मा अणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः। स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भूतो भवति। धर्मान्तरस्य उदये च तिरोभवति।

इस (स्वच्छ दृष्टि वाली चित्त-समापत्ति) को उस एकबुद्धि (एकजीव) का पूर्व परिचय (ख) मिलता है जो पदार्थों का यथार्थ तत्त्व है तथा अणुओं की विशेष समष्टि यथा गायादि, घटादि अथवा जगत् का यथार्थ स्वरूप है। पुनः, 'यह' (एकजीव) अणुओं की विशेष समष्टि से पृथक् रूप रखता है और भूतों के सूक्ष्म तत्त्व का सामान्यधर्म है। 'यह' अपनी विशेषता रखता है और व्यक्त फल द्वारा अनुमित होता है। 'यह' अपने अभिव्यञ्जक कारण से युक्त हो कर (संप्रज्ञात समाधि में) दृष्टिगोचर होता है तथा दूसरे धर्म के उदय होने पर 'यह' (असंप्रज्ञात-समाधि में) अदृश्य हो जाता है।

स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते। योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च। तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते। यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यं तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति। प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति। तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद्विषयाभावात्।

'यह' वह धर्म है जिसे अवयवी (सामान्य एक) कहा जाता है। 'यह' वह है जो एक, महान्, अणु, स्पर्शनीय, क्रियाधर्म वाला और अनित्य है; सारे व्यवहार इस अवयवी से किये जाते हैं (ग)। इसके विपरीत, जो ऐसा माने कि 'यह' सामान्य एक 'अस्तित्वहीन किसी वस्तु' (अर्थात् शून्य) का परिणाम है और सूक्ष्म कारण न मानने योग्य हैं; उसके लिये, अवयवी के अभाव से सारा ज्ञान अपने से भिन्न किसी दूसरे दिखाव में स्थित हुआ मिथ्या (उल्टा) है; जो कुछ भी प्राप्त होता है वह केवल मिथ्या ज्ञान है और तब विषय के अभाव से सम्यग् (पूर्ण) ज्ञान क्या हो सकता है?

प्रज्ञा में तद्रूप हो जाता है। इसी कारण, इसे "अपने रूप को त्यागी हुई सी" कहा गया है)। अतः, यह स्पष्ट है कि चित्त अपने (निरोधमुखी वृत्ति वाले) स्वरूप को नहीं छोड़ता। यह केवल योग का ज्योतिर्मय आलोक प्राप्त करता है। (ख) "पूर्व परिचय" शब्द यह सूचित करता है कि चित्त उस आलोक में सम्पूर्ण तल्लीन नहीं होता, कभी कभी बहिर्मुखी संस्कारों से आक्रांत हो जाता है। यह समाधि की सूक्ष्म-प्रज्ञा है। बाकी सब भाष्य से ही स्पष्ट है। (ग) यहां "अवयवी" शब्द संप्रज्ञात-समाधि की अहंग्राह्य-प्रज्ञा रूप एकजीव का द्योतक है और यह उपादान कारण "प्रधान" का लिंगमात्र गुण-पर्व है तथा यह 'अवयवी' आधुनिक भौतिक विज्ञान की पहुंच के परे है (यो. सू. २।१९)।

यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाघ्रातम् । तस्मादस्त्यवयवी यो महत्तत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयीभवति ॥ ४३ ॥

जो कुछ भी अनुभव किया जाता है वह सब अवयवी के तत्त्व से ही जाना जाता है । अतः, अवयवी स्थित है जो महत्तत्त्व आदि के व्यवहार को प्राप्त हुआ है । यही स्वच्छ दृष्टि वाली निर्वितर्का समापत्ति का विषयी (आधार) है (घ) ।

(घ) भाष्यकार यहां पाठकों के सामने खज़ाना उपस्थित करते हैं, परन्तु कुंजी अभी भी उन्हीं के पास है । यह कुंजी कहीं भी किसी मूलग्रन्थ में नहीं दिखायी गयी है । यह सदा ही एक दूसरे को कानों कानों से दी जाती है ।

कई यह विचार रख सकते हैं कि यह पक्षपात का चिन्ह है तथा हमारे महर्षियों के हृदय की अनुदारता को प्रकट करता है ।

ऐसे कभी भी नहीं हो सकता । एक समर्थ पिता अपनी सुन्दर पुत्री का विवाह साधारणतः एक योग्य पात्र के साथ ही कराता है । अयोग्य पुरुष उस गुणवती बालिका को प्राप्त करने की आशा कभी रख ही नहीं सकता । इसीप्रकार, शास्त्रों की यह पवित्र तथा गुप्त विद्या भी हमारे महर्षियों की कन्या है । इस विद्या को योग्य पुरुष के प्रति देने के लिये ही वे बारम्बार आदेश दे गये हैं । यदि यह गुप्त शिक्षा किसी अयोग्य पुरुष को दी जाये तो वह अवश्य ही इसका अपव्यवहार करेगा । इस सिद्धांत को पुष्ट करने वाली एक कहावत भी है कि " पहिले योग्य बनो, पीछे प्राप्ति करो " । अतः इस गुप्त खज़ाने तथा इसकी कुंजी के अधिकार से वंचित हुए मेरे भाइयों को निराश नहीं होना चाहिये । पहिले आप योग्य बनिए, तत्पश्चात् आप अवश्य ही शास्त्र के इस गुप्त खज़ाने का उत्तराधिकारी बनेंगे ।

निम्नलिखित चार शर्तें इस कुंजी को प्राप्त करने की आवश्यकीय योग्यता दर्शाती हैं और इसे प्रकाशक के कार्यालय से स्वयं आ कर प्राप्त करना होगा, परन्तु पत्रव्यवहार से किसी प्रकार भी नहीं ।

(१) जिज्ञासु को एक कृपण के धन की न्याईं इसे अवश्य ही अतीव गुप्त रखना होगा । इसे न किसी सभासमिति में खोलना होगा और न ही इसे कागज पर लिखा जा सकेगा । सृष्टि के आदि से यह कुंजी कानों कानों में से ही आती है और इसी प्रकार आगे भी सदा कानों कानों में से ही जायेगी ।

(२) सरल और शुद्ध हृदय से जिज्ञासु को वेदशास्त्रों पर श्रद्धालु रहना पड़ेगा । यहां धर्मान्तर दीक्षा का कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि दीक्षा (धर्म-शुद्धि) की ओट में विश्व की शांति भंग करने के लिये शास्त्र हमें कभी आज्ञा नहीं देते । विपरीत इसके, शास्त्रविधिविहित पारस्परिक संबंध को देखते हुए वे सब को आलिंगन करने का आदेश देते हैं । पुनः, वे स्थापित करते हैं कि वेद मूल हैं, वैदिकधर्म तना है और अन्य सब धार्मिक सम्प्रदाय एक ही वृक्ष की शाखायें, प्रशाखायें, पत्ते और कोंपलें हैं (म. स्मृ. ५।४४; १०।४३-४५) । पोते-पोतियां अपनी नानी-दादी की सेवा नहीं भी कर सकते हैं, अधिकन्तु उन्हें एक बूढ़ी डायिन के नाम से पुकारते हैं, परन्तु नानी–दादी उन्हें अपने ही खून के अंश समझती हुई अपने उन चञ्चल स्नेहपात्रों की सदा पालना करती हैं ।

(३) सृष्टि से लेकर लय तक दिव्य और मनुष्य लोक के सारे भूतप्राणियों का पारस्परिक संबंध जानने के लिये जिज्ञासु यथासाध्य प्रयत्न से मनु-स्मृति का अध्ययन करे और इस पारस्परिक हित-पूरणार्थ वह जहां तक हो सके उन विधियों को पालन करने का प्रयत्न करे ।

(४) देवी–देवता अथवा मूर्तिपूजा के संबंध में दूसरे मतवादियों से झगड़ा न करे ।

विशेष द्रष्टव्य— उसे यह स्मरण रखना होगा कि यदि वह इस कुंजी को कपटभरे हृदय से लेगा तो सर्वशक्तिमान् पिता उसे अवश्य ही भारी दंड देंगे ।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

मूलार्थ— इसके द्वारा सूक्ष्म क्षेत्र वाली सविचार (डोलती हुई निरोधमुखी चित्तवृत्ति सहित) और निर्विचार (एक रस प्रज्ञासहित) समापत्तियों का निःसन्देह वर्णन हो चुका है-४४.

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। तत्र भूतसूक्ष्मकेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते।

वहां, सूक्ष्म भूतों के व्यक्त धर्मों वाले देश, काल तथा निमित्त के अनुभव द्वारा भिन्न-भेदयुक्त प्रकाशन में जो चित्त की समापत्ति है उसे सविचार कहा जाता है। वहां भी केवल एक बुद्धि (एकजीव) द्वारा निश्चित (क) और उदय हुए धर्म से युक्त सूक्ष्म भूत आलंबन हो कर समाधि-प्रज्ञा में प्रकट होता है।

या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते। एवंस्वरूपं हि

दूसरी ओर अतीत, वर्तमान और भविष्य धर्मों के भिन्न-भेद के अभाव वाले सब विशेष धर्मों के पीछे चलने वाले सब धर्मों के प्रकाशन में सर्व प्रकार से और सर्व ओर से जो समापत्ति होती है, वह निर्विचार (ख) कहलाती है। इस प्रकार का प्रकाश ही वास्तव में वह सूक्ष्मभूत है और यह

टि. सू. ४४ (क) ' एकबुद्धि द्वारा निश्चित ' शब्द यह सूचित करते हैं कि इस समापत्ति में चित्त योगालोक में पूर्णतया तल्लीन होता हुआ प्रबल निरोध संस्कार को प्राप्त करता है। यह सविचार समापत्ति १७ वें सूत्र की सानन्द प्रज्ञा, ३८ वें सूत्र का स्वप्नज्ञानालंबन, प्रणव के ' उ ' रूप दूसरी मात्रा में करण-ग्राह्य प्रज्ञा तथा गीता का ' अधिदैव ' रूप है। इस स्थिति में पहुंचने पर योगी अपनी सत्ता को अपने शरीर से इस प्रकार पूर्णतया पृथक् देखता है जिस प्रकार हम अपने को अपने वासगृहों से पृथक् देखते हैं। स्वप्नावस्था में सारे विषयों से संबंधित देश, काल और क्रियात्मक कारण (निमित्त) के भेदों को हम पूर्णतया अनुभव करते हैं यद्यपि यह अवस्था जाग्रत के सब पदार्थों से सम्पूर्णतया स्वतन्त्र है। योगी इस स्वप्नावस्था को पूर्णतया जीत लेता है। दूसरे शब्दों में यह स्वप्नावस्था उसके लिये जाग्रत और यह दृश्यमान् बाह्यजगत् उसे स्वप्नमय दीखता है। इसे ३७ वें सूत्र में वर्णित सम्पूर्ण आसक्तिशून्य भावधारा कहा गया है (भ. गी. २।६९)।

(ख) यह निर्विचार समापत्ति १७ वें सूत्र में शुद्ध अस्मितामात्र प्रज्ञा है, ३८ वें सूत्र में निद्राज्ञान का आलंबन है, २८ वें सूत्र में प्रणव की तीसरी मात्रा ' म ' है, संप्रज्ञात समाधि की अहंग्राह्य प्रज्ञा तथा गीता का ' अधियज्ञ ' रूप है। सुषुप्ति (निद्रा) अवस्था में हम देश, काल और क्रियात्मक कारण (निमित्त) के सब भेद-भावों को भूलकर साम्यावस्था (एकीभाव) का आनन्द भोगते हैं। इसी प्रकार, समाधि-प्रज्ञा की चौथी अवस्था को प्राप्त करने पर योगी के लिये यह निद्रावस्था एक खेल का विषय बन जाती है। यही वह अवस्था है जहां योगी मृत्यु के वास्तविक स्वरूप को देखता है और सारे क्लेश व कर्म से मुक्त हो कर अमर हो जाता है। गीता में इस स्थिति को कर्म की अन्तिम सीमा के रूप में

तद् भूतसूक्ष्मम् एतेनैव स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति । प्रज्ञा च स्वरूप-शून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते ।

(सूक्ष्मभूत) केवल इसी प्रकाश का आलंबन करके समाधि-प्रज्ञा के स्वरूप को रंगता है। पुनः, जब यह प्रज्ञा अपने स्वरूप से शून्य सी होती हुई एकमात्र तत्त्व (ग) ही बन जाती है, तब इसे निर्विचार समापत्ति कहा जाता है।

तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च । सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च । एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्या-तेति ॥ ४४ ॥

वहां, सवितर्क (मानी हुई) और निर्वितर्क (स्वच्छ दृष्टि वाली) चित्त-समापत्तियों का क्षेत्र 'वस्तु' का स्थूलांश है और सविचार तथा निर्विचार का क्षेत्र 'वस्तु' का सूक्ष्मांश है। अतः, इन दोनों (सविचार व निर्विचार) के संशय का अन्त इस निर्वितर्क (स्वच्छ दृष्टि वाली) समापत्ति द्वारा वर्णित हो चुका है (घ)।

वर्णन किया गया है। (ग) भाष्यकार यहा पुनः "इव" (शून्य सी होती हुई) शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ यह है कि सविचार समापत्ति में चित्त निरोध संस्कार वाली सक्रिय अवस्था में रहता है, परन्तु इस निर्विचार समापत्ति में चित्त उस क्रियात्मक स्वरूप को भी त्याग कर सुषुप्ति अवस्था की न्याई साम्यावस्था वाली वृत्ति में प्रवेश करता है। अतः इस समाधि को "स्वरूप से शून्य सी" कहा गया है। (घ) समाधि के पहिले पद में कोई स्थूल मूर्ति ध्यान का विषय होती है, दूसरे पद में योगा-लोक दीख पड़ता है। इसलिये ये दो पद 'प्रधान' के विशेष-गुणपर्व पर निर्भर करते हैं। तीसरा और चौथा पद दृश्यमान् जगत् के साथ कोई संबंध नहीं रखता, तत्कारण इनका क्षेत्र 'वस्तु' नामक 'प्रधान' का सूक्ष्मांश है। समाधि के पहिले पद में योगी अपना कार्य किसी स्थूल मूर्ति की कल्पना से आरंभ करता है। यहां इसे कोई स्पष्ट अनुभव नहीं मिलता, इसीकारण इस समाधि को सवितर्क (मानी हुई अर्थात् काल्पनिक) कहा गया है। दूसरे पद में वह (योगी) तत्त्व के आविर्भाव को स्पष्टतः देखता है। वह संशयहीन हो जाता है और आगे अग्रसर होने में कोई थकावट नहीं मानता। दूसरे पद में और तीसरे के आरंभ में योगी किसी सिद्धि-शक्ति के कई प्रलोभनों में आ जाता है। यदि वह अपनी सफलता पर अहंकारी तथा विषयभोगों का शिकार बन जाये तो वह प्राप्त की हुई अपनी सारी शक्ति को खो बैठता है। केवल वैराग्य ही एकमात्र आधार है जिससे वह पूर्ण सफलता के लिये योग्य बन सकता है (यो. सू. ३।५०)।

बहुत लोगों का यह विचार है कि समाधि सदाकाल के लिये स्थित नहीं रहती, यह केवल ध्यान अथवा प्रार्थना के समय पर ही आती है और प्रार्थना समाप्त होनेपर नष्ट हो जाती है। परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। पहिले, दूसरे और तीसरे पद के आरंभ समय समाधि-प्रज्ञा के स्थिति-प्रवाह में अवश्य ही कुछ छेद भेद रहते हैं। परन्तु, योगी जब समाधि के चौथे पद को पूर्णतया लाभ करता है तब चाहे वह किसी भी अवस्था में हो वह सदा ही समाधि-प्रज्ञा में स्थित रहता है (भ. गी. २।५५–५८; ५।७–९; ६।३१)। इसके विपरीत, ऐसे बहुत लोग हैं जो जीवनमुक्त का ढोंग रचते हुए इस दृष्टान्त की ओट में राजा जनक बने फिरते हैं। वे इसका विचार नहीं रखते कि उन्होंने कहां तक स्वप्न और निद्रावस्था को जीता है और योग के व्यक्त तथा अव्यक्त गुणों को अर्थात् शरीर और चित्त की

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

मूलार्थ— आगे, सूक्ष्म क्षेत्र का भाव अलिंग गुणपर्व में समाप्त हो जाता है— ४५.

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्। पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः। आप्यस्यापि रसतन्मात्रम्। तैजसस्य रूपतन्मात्रम्। वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्। आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति। तेषामहंकारः। अस्यापि लिङ्गतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः। लिङ्गमात्रस्याप्यालिङ्गं सूक्ष्मो विषयः। न

पृथ्वी के अणु का गन्ध तन्मात्र सूक्ष्म क्षेत्र है, जल के अणु का रसतन्मात्र, तेज के अणु का रूपतन्मात्र, वायु के अणु का स्पर्शतन्मात्र और आकाश के अणु का शब्द-तन्मात्र सूक्ष्म क्षेत्र है। अहंकार इन सब का सूक्ष्म क्षेत्र है। पुनः इसका भी सूक्ष्म क्षेत्र लिंगमात्र (गुणपर्व) है और इस लिंगमात्र का भी 'अलिंग' (क) सूक्ष्म क्षेत्र है। आगे, अलिंग (गुणपर्व) के पार कुछ भी सूक्ष्म (क्षेत्र) नहीं है। यहां शंका होती है कि

सिद्धियों को कहां तक प्राप्त किया है (भ. गी. १८।३५)। जहां चित्त के संस्कारों में निरोध-परिणाम का निरन्तर क्रम न रहे और इसी क्रम को लेकर जबतक चित्त अपनी परिसमाप्ति (अन्त) रूप असंप्रज्ञात-समाधि-स्थिति में न पहुंचे तो वह समाधि-प्रज्ञा कभी भी नहीं कही जा सकती। दूसरे शब्दों में, चित्त (बहिर्मुखी वृत्तियों को छोड़ता हुआ निरोध-परिणाम-क्रम ले कर निरोध-वृत्तिसहित अग्रसर होता हुआ) असंप्रज्ञात-समाधि-स्थिति रूप स्वकारण में लय हो जाता है (यो. सू. ३।९-१३)।

यहां समाधि के वर्णन में हम एक विशेष सौन्दर्य देखते हैं। हमारे भाष्यकार ध्येय के स्थूलालंबन को ही समाधि का पहिला पद मानते हैं। अतः मूर्तिपूजा की आवश्यकता होती है। हमारे महर्षिजन यह विधान देते हैं कि साधक भगवान् को लक्ष्य में रखता हुआ प्रथमतः किसी भी मूर्ति, तसवीर या किसी भी चिन्ह पर अपने चित्त की एकाग्रता के लिये ध्यान धरे। एकाग्रता में अभ्यस्त होने पर साधक क्रमिक पदों से बढ़ता हुआ अन्त में भगवान् के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष करता है। इस कार्य में सफलता-प्राप्ति के लिये और दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। उदाहरणार्थ- यदि हम किसी से पूछें कि उसकी स्त्री साकारा है या निराकारा। उत्तर में यदि साकारा कहे तो स्त्री के मरने पर वह मृत शरीर को शीघ्रातिशीघ्र क्यों हटाता है? शरीर तो उसके सामने पड़ा है, परन्तु आगे के लिये वह क्यों नहीं इससे प्रेम रखता। इसके विपरीत वह इसी शरीर को देख कर अति भयभीत होता है। पुनः यदि वह कहे कि स्त्री निराकारा है तो अपने गृह-कार्यों के उद्देश्य से वह क्यों उसके शरीर से प्रेम करता है? यही स्थिति ईश्वर के बारे में भी है। एक ही दृष्टिकोण से उनका स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकता, इसे दोनों ओर से अवश्य ही वर्णन करना पड़ेगा। हमारी भोगपूर्ति के लिये वे साकार हैं और मोक्षप्राप्ति के पश्चात् वे निराकार होते हैं। पुनः प्रथम पद रूप भोगपूर्ति के बिना कोई भी मनुष्य अन्तिम पद रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

टि. सू. ४५. (क) सविचार और निर्विचार समापत्ति के सूक्ष्म क्षेत्र का वर्णन पूर्ववर्ती सूत्र में हो चुका है। अब इस सूत्र द्वारा भाष्यकार मन के स्थूलालंबन से ले कर चित्त की परिसमाप्ति तक समाधि-प्रज्ञा के परिणाम-क्रम नामक लय-प्रणाली को पूर्णतया दिखाते हैं।

चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति। नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति। सत्यम्। यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य। किंतु लिङ्गस्यान्वयि कारणं पुरुषो न भवति, हेतुस्तु भवतीति। अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

'पुरुष' सूक्ष्म (क्षेत्र) है या नहीं। यह कथन सत्य है। लिंग (गुणपर्व) से परे जैसे अलिंग (गुणपर्व) का सूक्ष्मभाव है, इस प्रकार 'पुरुष' का नहीं है; क्योंकि 'पुरुष' लिंगमात्र का उपादान कारण नहीं है परन्तु निमित्त कारण है। अतः (ख) 'प्रधान' (मुख्य उपादान कारण) के संबंध में निरतिशय सूक्ष्मता का वर्णन किया गया है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

मूलार्थ-- ये निःसन्देह सबीज समाधि (के अन्तर्गत) हैं-- ४६.

ता एव सबीजः समाधिः। ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः। तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्कः निर्वितर्कः। सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति। स चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥ ४६ ॥

इन चार चित्त-समापत्तियों का बीज व्यक्त 'वस्तु' में है (क)। अतः, समाधि भी बीज वाली है। वहां, सवितर्क (मानी हुई) तथा निर्वितर्क (स्वच्छ दृष्टि वाली) समापत्ति स्थूल विषय में हैं और सविचार तथा निर्विचार समापत्ति सूक्ष्म विषय में हैं। अतः, यह समाधि चार प्रकार की वर्णन की गयी है (ख)।

टि. सू. ४५ (ख) अलिंग गुणपर्व ही मुख्य सक्रिय उपादान कारण है और 'पुरुष' निष्क्रिय-निमित्त कारण है। यहां भाष्यकार इस विषय को वेदान्त-दर्शन पर छोड़ देते हैं, कारण यह विज्ञान 'पुरुष' को अविद्या से मुक्त करने के (कर्मसंबंधीय) विषय का वर्णन करता है और वेदान्त-दर्शन 'उसके' यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है।

टि: सू. ४६ (क) यहां 'वस्तु' शब्द उपादान कारण 'प्रधान' (जगत् सत्ता) को सूचित करता है। (ख) वही संप्रज्ञात-समाधि यहां सबीज कही गयी है, क्योंकि चित्त अभी भी निरोध संस्कार वाली वृत्ति सहित रहता है। पुनः भाष्यकार स्वयं यह कह कर उपसंहार करते हैं कि "यह समाधि चार प्रकार की है"। अतः संप्रज्ञात समाधिगत इन चार पदों के वर्णन के संबंध में विभिन्न प्रतिशब्दों के प्रयोग से हमें भ्रमित नहीं होना चाहिये।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

मूलार्थ— निर्विचार समापत्ति की पूर्ण स्थिति में अध्यात्मप्रसाद (ज्योति) उदय होता है-४७.

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् । यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादः भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः । तथा चोक्तम्–

" प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति "
॥ ४७ ॥

अशुद्धिमल के आवरण से मुक्त हुआ तथा स्वरूप से प्रकाश वाला बुद्धिसत्त्व का जो रजो और तमोगुण से अपराजित स्वच्छ स्थिति-प्रवाह है, उसे पूर्ण स्थिति कहा जाता है। जब निर्विचार समाधि की यह पूर्ण स्थिति उदय होती है तब किसी भी क्रम से संबंध न रखने वाला नित्य सत्ता के क्षेत्र से युक्त स्वच्छ प्रज्ञादृष्टि रूप अध्यात्मप्रसाद योगी को प्राप्त होता है। इसी-तरह यह भी कहा गया है कि प्रज्ञादृष्टि-सम्पन्न अदयनीय योगी प्रज्ञादृष्टि रूप महल पर चढ़ कर शोकग्रस्त लोगों पर इसप्रकार दया करता है जैसे पहाड़ के शिखर पर बैठा हुआ एक मनुष्य भूमिस्थित लोगों को देखता है।

ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

मूलार्थ— वहां प्रज्ञादृष्टि " सत्य से पूर्ण " है— ४८.

ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा । तस्मिन्त्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतंभरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति । न च तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति । तथा चोक्तम्–

" आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तममिति "
॥ ४८ ॥

उस समाधिस्थ चित्त में जो प्रज्ञादृष्टि उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतंभरा (सत्य से पूर्ण) है। पुनः 'यह' शब्द ठीक ठीक अर्थ को धारण करता है क्योंकि यह एकमात्र सत्य को ही सूचित करता है; और भी, इसमें मिथ्या (उल्टा) ज्ञान का गन्धमात्र भी नहीं रहता। इसलिये यह भी कहा गया है कि शास्त्र, अनुमान तथा ध्यान (क) के अभ्यास से उत्पन्न हुआ आनन्द,— इन तीन उपायों द्वारा प्रज्ञादृष्टि प्राप्त करके योगी श्रेष्ठतम योग लाभ करता है।

टिः सू. ४८ (क) भाष्यकार यहां पूर्ण सफलता प्राप्ति का उपाय दर्शाते हैं, क्योंकि प्रत्येक विज्ञान अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिये इन तीन साधनों की आवश्यकता रखता है। इस विधिबद्ध कार्यक्रम को अवलंबन करता हुआ योगी जिस फल को प्राप्त करता है उसका वर्णन अगले सूत्र में होता है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

मूलार्थ— यह (प्रज्ञा) श्रवणज्ञान और अनुमानज्ञान के क्षेत्रों से पृथक् क्षेत्र वाली है; कारण, यह " विशेषसत्य " के ज्ञान को रखती है— ४९.

सा पुनः --- श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् । श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम् । न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम् । कस्मात् ? न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति ।

पुनः, यह प्रज्ञादृष्टि श्रवणज्ञान और अनुमानज्ञान के क्षेत्रों से पृथक् क्षेत्र वाली है; कारण, यह " विशेषसत्य " के ज्ञान को रखती है। श्रवणज्ञान शास्त्रीय ज्ञान है। यह सामान्य पदार्थों के क्षेत्रवाला है; कारण, शास्त्रों द्वारा विशेष को नहीं दिखाया जा सकता। कैसे ? कारण, विशेष वस्तु शब्दों में बैठी नहीं रहती।

तथानुमानं सामान्यविषयमेव यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्राप्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम् । अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः । तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति । न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोक-

इसीप्रकार, अनुमान सामान्य पदार्थों के क्षेत्र वाला है। यह कहा गया है कि जहां पहुंच है वहां गति है, जहां पहुंच नहीं वहां गति भी नहीं है। और अनुमान द्वारा आया हुआ सिद्धांत सामान्य विषयों से संबंध रखता है। अतः श्रवणज्ञान और अनुमान-ज्ञान का क्षेत्र किसी भी विशेष वस्तु को नहीं रखता (क)। और भी, सूक्ष्म, व्यवहित (रुकी हुई) तथा दूरस्थित 'वस्तु' का ज्ञान जागतिक प्रत्यक्ष (ख) से नहीं होता। पुनः, प्रमाण

टि. सू. ४९ (क) इस बात को सिद्ध करने के लिये किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि श्रवणज्ञान और अनुमानज्ञान कभी भी किसी को किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं करा सकते। उदाहरणार्थ— ग्रामीण लड़के स्कूल की पाठ्य पुस्तकों से शेर का आकार-प्रकार तथा स्वभाव संबंधीय ज्ञान लाभ करते हैं। वे निश्चयपूर्वक जानते हैं कि शेर एक भयंकर पशु है, तथापि वे अपनी पुस्तकों में उस पशु की कई तस्वीरें देख कर भयभीत नहीं होते। परंतु जब उन्हें किसी बड़े शहर के चिड़ियाघर में ले जाया जाता है तब वे शेर का वास्तविक रूप देख कर निःसन्देह चकित हो जाते हैं। यही हाल हमारा भी है। न ही पाश्चात्य और प्राच्य दर्शनों में सुशिक्षित ज्ञानचंचु (वृथाही अपने को ज्ञानी मानने वाले) दार्शनिक पंडित और न ही आधुनिक जडवादी लोग केवल मात्र पुस्तकों के ज्ञान से चित्त की एकाग्र स्थिति में उदय होने वाले " विशेष सत्य " के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं (कठोपनिषद १।२-७ और गीता २।२९)। (ख) प्रत्यक्ष ही केवल किसी वस्तु के विशेष स्वरूप का निर्धारण कर सकता है, परंतु वह साधारण प्रत्यक्ष उस सूक्ष्म 'वस्तु' को कभी भी नहीं पहुंच सकता। अतः प्रमाण के ये तीन साधन आरंभ में अतीव अवश्यक होने पर भी 'उस सत्य' के यथार्थ स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने में बहुत दूर तक नहीं जाते। यहां यह कहना निष्प्रयोजन है कि वेदान्त-दर्शन द्वारा गृहीत अन्य तीन उपाय 'अनुमान' की कोटि में ही आते हैं। यह कहा जा चुका है कि योगसूत्र कर्म-भूमि

प्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति । न चास्य विशेषस्याप्रामाणिकस्याभावोऽस्तीति । समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति—भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा । तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥ ४९ ॥

द्वारा देखा न जाने वाला यह 'विशेष सत्य' अस्तित्व से शून्य नहीं है। इस 'विशेष सत्य' का निर्धारण एकमात्र समाधि-प्रज्ञा द्वारा ही होता है कि यह सूक्ष्मभूत के अन्तर्गत है या 'पुरुष' के (ग)। अतः यह प्रज्ञा-दृष्टि श्रवण-ज्ञान और अनुमानज्ञान के क्षेत्रों से पृथक् क्षेत्र वाली है; कारण, यह 'विशेष सत्य' के ज्ञान को रखती है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

मूलार्थ— इससे उत्पन्न संस्कार दूसरे संस्कारों का विरोधी होता है-- ५०.

समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी । समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते । व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति । प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते । ततः समाधिजा प्रज्ञा

समाधि-प्रज्ञा लाभ करने पर प्रज्ञादृष्टि द्वारा उत्पन्न किये गये संस्कार योगी को नये नये रूप में प्राप्त होते हैं-- इससे उत्पन्न संस्कार दूसरे संस्कारों का विरोधी होता है। समाधि-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार बहिर्मुखी संस्कार के आशय को नष्ट करता है। बहिर्मुखी संस्कार नष्ट होने पर उससे उत्पन्न ज्ञान (चित्त-वृत्ति) नहीं जागता। वृत्तियों का निरोध करने पर समाधि-प्रज्ञा उदय होती है। तदनन्तर

रूप खेती है और वेदान्त-दर्शन फसल के स्वरूप को दिखायेगा। इसी कारण, वेदान्त-दर्शन का विषय इस विद्या से अधिकतर गूढ़ है और यह (योग) विद्या ही उस परमविद्या की नींव है। (ग) भूमिका में मैं पाठकों से पहिले ही निवेदन कर चुका हूं कि वे सब पक्षपात् दृष्टियों को छोड़ कर निरपेक्ष भाव से मेरे इस सिद्धान्त को विचारें। नीच स्वार्थी साम्प्रदायिकों के दोषपूर्ण अर्थ द्वारा हमारे सर्वानुकूल, सर्वहितकारी तथा सर्वसुन्दर वेदशास्त्रों में जो संक्रामिक गन्दगी डाली गयी है उसे पाठकों की सहायता से हटाना ही मेरा एकमात्र लक्ष्य है। कड़वी औषधि ही सदा दीर्घस्थायी रोगों का इलाज है। भोगकीटों के लिये यह विद्या अतीव कड़वी तथा निगलने में बड़ी कठिन है। इसी कारण, नीच स्वार्थ-सिद्धि का ही उद्देश्य रखने वाले साम्प्रदायिक लोग इस विद्या का यथाविधि अनुशीलन नहीं करते तथा इस योगशास्त्रविहित साधनों को अभ्यास में नहीं लाते। उन्होंने कई काल्पनिक सिद्धान्त स्थापित किये हैं जिनसे हमारे वर्तमान युग का अधःपतन हुआ है। ऐसे अन्धे पथप्रदर्शकों के पीछे अन्धे होकर नहीं चलना चाहिये। आओ हम ध्यानपूर्वक हमारे व्यास भगवान् के सुन्दर भाष्यसहित इस स्मरण रखने योग्य सूत्र को देखें— "इस 'विशेष सत्य' का निर्धारण एकमात्र समाधि-प्रज्ञा द्वारा ही होता है कि यह सूक्ष्मभूत (प्रधान) के अन्तर्गत है या 'पुरुष' के।" इसका यह अर्थ है कि फल के बदले साधन में ही प्रयत्न लगाना बुद्धिमत्ता का लक्षण है। जो लोग अपनी खेती करने के लिये यथायोग्य साधन नहीं अपनाते परन्तु फसल की मात्रा और गुण को ले कर एक दूसरे से झगड़ते हैं, वे सम्पूर्णतया भ्रान्त हैं।

ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो जायते ।

समाधि से उत्पन्न प्रज्ञादृष्टि आती है, पुनः प्रज्ञादृष्टि से उत्पन्न (निरोध) संस्कार आते हैं; इस प्रकार नये नये संस्कारों का आशय उत्पन्न होता है।

ततश्च प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति कथमसौ संस्काराशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति ?

पुनः उससे प्रज्ञादृष्टि उत्पन्न होती है और फिर इससे (निरोध) संस्कार आते हैं इत्यादि । यदि ऐसा ही है तो (निरोध) संस्कारों का आशय चित्त को अधिकारयुक्त क्यों नहीं बनाता ?

न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति । चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति । ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥ ५० ॥

प्रज्ञादृष्टि से उत्पन्न वे संस्कार क्लेशों को नष्ट करने के कारण, चित्त को दूसरे कर्तव्यों से युक्त नहीं करते; क्योंकि वे निरोध (संस्कार) केवल चित्त को उसके अपने कर्त्तव्यों से मुक्त ही करते हैं। प्रकाशन की परिसमाप्ति ही वास्तव में चित्त का कार्य है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

मूलार्थ-- उसका भी निरोध होने पर सब निरुद्ध होने से निर्बीज समाधि आती है- ५१.

किं चास्य भवति ? तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः । स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी । प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति । कस्मान्निरोधजः संस्कारः समाधिजान्संस्कारान्बाधत इति । निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम् । व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृताववस्थितायां प्रविलीयते । तस्मात् ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न

निरोधमुखी संस्कार में और क्या आता है ? उसका भी निरोध होने पर सब निरुद्ध होने से निर्बीज समाधि आती है। वह (निरोधमुखी संस्कार) न केवल समाधि-प्रज्ञा का विरोधी है, अपितु प्रज्ञादृष्टि द्वारा उत्पन्न संस्कारों का भी विरोधी होता है । यह कैसे ? निरोध से उत्पन्न संस्कार समाधि-प्रज्ञा से आये हुए संस्कारों का विरोधी होता है। निरोधमुखी चित्त द्वारा उत्पन्न किये गये संस्कार का अस्तित्व निरोध-स्थिति के काल में क्रम के अनुभव से अनुमान किया जाता है। व्युत्थान (बहिर्मुखी) संस्कारों के निरोध द्वारा समाधि-प्रज्ञा से उत्पन्न तथा कैवल्य की ओर ले जाने वाले संस्कारों सहित चित्त अपने सदा विद्यमान निर्धारक-कारण (' प्रधान ') में लय हो जाता है। इसलिये चित्त के कर्तव्यों के विरोधी (ये) संस्कार इसकी आगे की स्थितिका

स्थितिहेतवो भवन्तीति । यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्तते । तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यत इति ॥ ५१ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे प्रथमः समाधिपादः समाप्तः ॥ १ ॥

कारण नहीं बनते; कारण, चित्त अपने कर्तव्यों से मुक्त हो कर कैवल्य की ओर ले जाने वाले संस्कारों सहित समाप्त हो जाता है। यह (चित्त) समाप्त होने पर, 'पुरुष' अपने स्वरूप में पूर्णतया स्थित होता है। अतः, वह शुद्ध, केवल तथा मुक्त कहा जाता है (क)।

टि. सू. ५१ (क) यह निर्बीज समाधि इस अध्याय के १८ वें सूत्र में वर्णित असंप्रज्ञात-समाधि है। यहाँ भी भाष्यकार उसी भाव को पूर्णतया स्पष्ट करते हैं। यह समाधि एक बच्चे का खिलौना नहीं कि जब खुशी हो प्राप्त करे और जब न हो तो तोड़ डाले। यदि चित्त अपने सब संस्कारों से मुक्त हो कर अपने निर्वारक-कारण (प्रधान) में एकबार लय हो जाये तो फिर यह कैसे वापिस आ सकता है? आओ, हम इन अन्तिम दो सूत्रों की तुलना आधुनिक तथाकथित योगीराजों की असंप्रज्ञात-समाधि के साथ करें। वे लोग अपनी खुशी-अनुसार इस स्थिति को पहुंच जाते हैं और फिर मुक्तात्मा राजा जनक का अनुकरण करते हुए जागतिक भोग भोगने के लिये वापिस आते हैं। वे तो समाधि के निम्नतम पद के स्वरूप को भी नहीं जानते, तब इसकी चरम सीमा की प्राप्ति का तो कहना ही क्या! केवलमात्र क्रमबद्ध वैदिक संस्कृति का अभाव होने से ही हम सब भ्रान्त हो कर धूर्त कपटियों के शिकार बन चुके हैं।

यहां सांख्य के श्रेष्ठतम उपदेश में पतञ्जलि द्वारा प्रणीत योगविज्ञान संबंधीय समाधिपाद नामक प्रथम अध्याय समाप्त होता है ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

साधनपाद

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

मूलार्थ— तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है- १.

उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते। तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाध्यमानमनेनासेव्यमिति मन्यते।

शान्तचित्त के योग का वर्णन ऊपर (पहिले अध्याय में) हो चुका है। बहिर्मुखी चित्त भी कैसे योगयुक्त होगा? (इस उद्देश्य से) इस (अध्याय) का आरंभ होता है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (क) क्रियायोग है। तपस्या को न अपनाने वाले में योग दृढ़ नहीं होता। क्लेश और कर्मों के अनादि संस्कारों से रंगबिरंगी तथा इन्द्रियभोग्य विषयजाल के संयोग से आई हुई अशुद्धि तप के बिना हटाई नहीं जा सकती। इसीकारण तप को क्रियायोग के अन्तर्गत किया गया है। पुनः यह माना जाता है कि योगी को ऐसे तप का अभ्यास करना चाहिये जो उसकी चित्त-शान्ति का विरोधी न हो (ख)।

टि. सू. १ (क) इन तीन शास्त्राज्ञाओं के रचनाक्रम से बहुतों को यह संशय हो सकता है कि ईश्वर-प्रणिधान सब के अन्त में रखे जाने के कारण निम्नतर महत्त्व रखता है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यह वस्तुतः (महाव्रत में) योग के आरंभार्थ सब से अधिक प्रयोजनीय है। जब योगी को ईश्वरप्राप्ति की तीव्र इच्छा (ईश्वर-प्रणिधान) होती है तो यह स्वयं ही उसे स्वाध्याय की ओर ले जाती है। पुनः स्वाध्याय उसे तप की ओर बढ़ाता है जिससे योगी ईश्वर-प्राप्ति के लिये योग्य बन जाता है। महान् सूत्रकार की रचना का यह सौन्दर्य है। उद्देश्य को वे प्रथम स्थान में रखते हैं और बाकी सब उसकी प्राप्ति के लिये क्रमिक पद के रूप में एक दूसरे के पीछे आते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि योग ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर-प्राप्ति की तीव्र इच्छा) से आरंभ होता है और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर पर अनन्य ध्यान में मग्न होना) में समाप्त होता है। (ख) इससे यह स्पष्ट है कि बिना तप के चित्त शुद्ध नहीं हो सकता और न ही कोई सफलता प्राप्त कर सकता है। पुनः इसे अपनी योग्यतानुसार ही अपनाना चाहिये। वर्णाश्रमविभागानुसार शास्त्राज्ञा का पालन ही तप है। इसकी विधि तथा स्वरूप का निर्धारण पूर्वमीमांसा,

स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणम्। तत्फलसंन्यासो वा ॥ १ ॥

प्रणव (ओं) आदि पवित्र शब्दों का जप और मोक्षदायक शास्त्रों का अध्ययन ही स्वाध्याय है (ग) । परम गुरु में सर्व कर्मों को अर्पण करना (घ) अथवा इनके फलों का संन्यास (ङ) ईश्वर-प्रणिधान है ।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

मूलार्थ— समाधि उत्पन्न करने के उद्देश्य से तथा क्लेशों को दुर्बल बनाने के उद्देश्य से–२.

स हि क्रियायोगः — समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति, क्लेशांश्च प्रतनूकरोति। प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति।

तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पयिष्यत इति ॥ २ ॥

समाधि उत्पन्न करने के उद्देश्य से तथा क्लेशों को दुर्बल बनाने के उद्देश्य से इस क्रियायोग को अवश्य ही अपनाना होगा। इस (क्रियायोग) का पूर्ण अभ्यास करने पर यह समाधि उत्पन्न करता है और क्लेशों को दुर्बल बनाता है। आगे चल कर यह (क्रियायोग) इन क्षीण हुए क्लेशों को ध्यानाग्नि द्वारा भुंजे हुए बीज की न्याईं अनुपजाऊ बनायेगा।

इनको पूर्णतया दुर्बल बनाने पर सत्त्व (बुद्धि) और 'पुरुष' के मध्य एकमात्र भेद को ही प्रकाश करती हुई सूक्ष्म प्रज्ञादृष्टि क्लेशों से पुनः पीड़ित नहीं होती और इसके कर्त्तव्य पूर्ण होने के कारण यह लय होने के योग्य बन जाती है।

वेद तथा स्मृतियों से करना होगा। (ग) 'प्रणवादि' शब्द यह सूचित करते हैं कि केवलमात्र 'ओं' का उच्चारण ही सहायक नहीं होता, इसे ईश्वर के विशेष व्यक्त भाव रूप अपने इष्टदेव के नाम के साथ जोड़ना चाहिये (यो. सू. १।२९)। उदाहरणार्थ— संबोधनार्थ 'बाबु' एक सामान्य शब्द है। यदि मैं बिना लक्ष के केवल 'बाबु', 'बाबु' ही पुकारता जाऊं तो कोई भी मेरी इस पुकार का उत्तर न देगा जब तक कि मैं उसे व्यक्तिविशेष के नाम के साथ न लगाऊं जैसे कि कृपालबाबु, दयालबाबु इत्यादि। पुनः, राजा के किसी विशेष कार्यकर्त्ता की सहायता के बिना हम राजा के साथ मित्रता लाभ नहीं कर सकते। इसी प्रकार ईश्वर निर्लित हैं। हम उन्हें कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि यथाविधि आराधना से हम अपने अपने इष्टदेवों को संतुष्ट न करें। तदनुसार, 'जप' शब्द की व्याख्या 'प्रणव' द्वारा सूचित तत्त्व की खोज तथा उसी को प्रत्यक्ष करने के साधनों में निरन्तर लगे रहने के रूप में पहिले की गयी है (यो. सू. १।२८)। (घ) जो सांसारिक भोगों से पूर्णतया विरक्त हो कर अपने आत्मा में संतुष्ट होता है, वही शास्त्रविहित वैधकर्मों का संपादन न करके सारे वैदिककर्मों को ईश्वर में अर्पण करने के लिये योग्य होता है। यही योगी महाव्रत का अधिकारी है। (ङ) यह पक्षान्तर, प्रेयश्रेणी के आरंभकारियों के लिये ही है। सब काम्यकर्मों के फलों को परमगुरु ईश्वर में समर्पण करके उन्हें सब वैदिककर्मों का संपादन करना चाहिये। यह साधारणव्रत की श्रेणी है।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

मूलार्थ-- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये क्लेश हैं- ३.

अथ के क्लेशाः कियन्तो वेति? अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। क्लेशा इति पञ्चविपर्यया इत्यर्थः। ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं दृढयन्ति परिणाममवस्थापयन्ति कार्यकारणस्रोतं उन्नमयन्ति परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्ति ॥ ३ ॥

अब क्लेश कौन से हैं और कितने हैं? अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये क्लेश हैं। क्लेश पांच विपर्यय (उल्टे) ज्ञानों को सूचित करते हैं, यही अर्थ है। वे गतिशील हो कर गुणों के कार्य को दृढ़ करते हैं, परिणाम को स्थापित करते हैं, कार्य-कारण-प्रवाह को खोलते हैं और परस्पराश्रय की जंजीर बन कर कर्मविपाक (कर्मफल-निष्पत्ति) लाते हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

मूलार्थ-- अविद्या आगे आने वालों का क्षेत्र है चाहे ये प्रसुप्त (सोये हुए), तनु (दुर्बल), विच्छिन्न और उदार (पूर्णतया क्रियावान्) हों- ४.

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधकल्पानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः। तस्य प्रबोध आलम्बने सम्मुखीभावः। प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति। दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशः

अविद्या आगे आने वाले अस्मिता आदि का क्षेत्र अर्थात् प्रसवभूमि है। ये अस्मितादि प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार रूप चार प्रकार की संभावित शक्ति को रखते हैं। वहां, प्रसुप्ति क्या है? यह चित्त में शक्तिमात्र में वर्तमान रहने वालों (अस्मितादि) की बीजभाव में स्थिति है। जागने पर यह अपने आलंबन (ग्राह्य विषय) की ओर मुख फिराती है। जो ध्यानाग्नि (प्रज्ञादृष्टि) प्राप्त कर चुका है तथा जिसके क्लेशों का बीज दग्ध हो चुका है, उसके लिये आलंबन सामने आने पर भी ऐसी जागृति पुनः नहीं आती। दग्धबीज का अंकुर कहां है? अतः, जिस कुशल योगी के क्लेश नष्ट हो चुके हैं, उसे अन्तिम शरीर वाला कहा जाता है। इसकारण, केवल उसी के लिये ही इस दग्धबीज का भाव पांचवीं क्लेशावस्था को प्राप्त होता है, अन्यत्र कहीं भी नहीं होता। उस समय क्लेश रहने पर भी उनकी बीजशक्ति दग्ध

प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इत्युच्यते? सत्यमेवैतत्। किंतु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्।

को तब पृथक् रूप से प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार क्यों कहा जाता है? यह सत्य है, परन्तु विच्छिन्न आदि (क्लेशों की) अवस्था केवल उन्हीं लोगों के लिये है, जो इनसे आक्रान्त हैं।

यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्तः इति।

जैसे ये सब विपरीत कारणों को उत्पन्न करने से नष्ट होते हैं वैसे ही ये अपने उद्बोधक कारण के रंग से वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात्? सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यद्यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनुक्षीयन्त इति ॥ ४ ॥

ये सब क्लेश एकमात्र अविद्या के ही प्रकार-भेद हैं। क्यों? (कारण) केवल अविद्या ही उन सब में व्याप्त है। अविद्या द्वारा 'वस्तु' मिथ्या रूप से जो कुछ भी बनायी जाती है, उसी के पीछे क्लेश रहते हैं। विपर्यय (उल्टा) ज्ञान काल में वे देखे जाते हैं और अविद्या नष्ट होने पर ये भी नष्ट हो जाते हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

मूलार्थ— अनित्य में नित्यता, अशुचि में शुचि, दुःख में सुख तथा अनात्म में आत्मभाव का मिथ्या (उल्टा) ज्ञान ही अविद्या है— ५.

तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते— अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

अब अविद्या का स्वरूप कहा जाता है। अनित्य में नित्यता, अशुचि में शुचि, दुःख में सुख तथा अनात्म में आत्मभाव का मिथ्या ज्ञान ही अविद्या है।

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिस्तद्यथा— ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः अमृता दिवौकस इति।

अनित्य दृश्यमान् पदार्थों में नित्यता का ज्ञान इस प्रकार होता है—पृथ्वी नित्य है, चन्द्र व तारों सहित आकाश नित्य है, देवते अमर हैं।

तथाशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्यातिः। उक्तं च—
'स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः' ॥

अशुद्ध तथा अति घृणित शरीर में शुद्धि का ज्ञान भी इसी प्रकार है। जैसे कि यह कहा गया है— उत्पत्तिस्थान, बीज, पालन-पोषण, पसीना, नाश और निरन्तर सफ़ाई रखने की आवश्यकता के कारण इस शरीर को पंडितगण निश्चयपूर्वक

इति । अशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते— नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते। नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति, कस्य केनाभिसंबन्धः। भवति चेयमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः।

अशुद्ध जानते हैं (क)। अशुचि में शुचि-ज्ञान देखा जाता है:— "चन्द्रमा की नूतन कला की न्याईं यह लड़की चित्ताकर्षक है, ऐसे प्रतीत होता है कि उसके अंग मधु और अमृत से बने हुए हैं, ऐसे जान पड़ता है कि वह चन्द्रमा को चीर कर निकली हो, इसकी आखों का परिमाण नीलकमल की पत्ती के सदृश है, ऐसे दीख पड़ता है कि वह अपनी हावभाव वाली दृष्टि द्वारा जीवजगत् को प्राणदान करती है"। अब कौन किसके साथ संबंध रखता है (ख)। यही अशुद्धि में शुद्धि का विपर्यय ज्ञान है। इससे पाप में पुण्य-ज्ञान तथा अकल्याण में कल्याण-ज्ञान का वर्णन हुआ है।

तद्यथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति– "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इति । तत्र सुखख्यातिरविद्या।

इसीप्रकार, "परिणाम, ताप और संस्कार के दु:ख के कारण तथा गुणों के कार्य में विरोध रहने के कारण विवेकी (ग) के लिये ये सब नि:सन्देह दु:ख रूप हैं" — यह सूत्र (यो. सू. २।१५) दु:ख में सुखज्ञान का वर्णन करेगा। वहां सुख-ज्ञान ही अविद्या है।

तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति । तथैतदत्रोक्तम्—

इसीप्रकार, चेतन और अचेतन बाह्यसाधन (घ) रूप अनात्म में आत्मज्ञान है। यह सब अनात्म में आत्मज्ञान है चाहे यह भोग का (आधार) शरीर हो या 'पुरुष' का यन्त्र रूप मन। ऐसे ही इस विषय में भी कहा गया है कि, "व्यक्त (शरीर) और अव्यक्त (अन्त:करण रूप) सत्त्व को

टि. सू. ५ (क) यह अपने शरीरसंबंध में कहा गया है । (ख) यह अन्य शरीर के संबंध में है। लोग साधारणतः लड़की के सौन्दर्य की तुलना चन्द्रमा की सुन्दरता के साथ करते हैं। इससे भाष्यकार का यह मत प्रकाशित होता है कि रक्त, मांस तथा मल-मूत्र के भंडार इस अशुद्ध शरीर की तुलना शुद्ध चन्द्रमा के साथ करनी मूर्खता है। (ग) "विवेकी" ऐसे योगी को सूचित करता है जो महाव्रत श्रेणी में है अर्थात् जिसका चित्त विषय-भोगेच्छा रूप स्थूल-मल से मुक्त हुआ है। (घ) चेतनसाधन अन्तःकरण तथा अचेतनसाधन बाह्यकरण अर्थात् शरीर है। इस विद्यानुसार बुद्धिसत्त्व के तीन रूप हैं— बुद्धि, अहंकार अर्थात् चित्त (निम्नात्मा) और मन। पुनः, चित्त और मन सृष्टिकोटि के अन्तर्गत हैं। अंग्रेजी में इन दोनों के मध्य सूक्ष्म विभाग न रहने के कारण दोनों को एक ही प्रतिशब्द में लिया गया है।

" व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनुनन्दत्यात्मसंपदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः, स सर्वोऽप्रतिबुद्धः " । इति ।

एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति । तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तु सतत्त्वं विज्ञेयम् । यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किंतु तद्विरुद्धः सपत्नः । यथा चागोष्पद न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किंतु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम् । एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः । किंतु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥ ५ ॥

जो आत्मभाव में मान कर उस (सत्त्व) की वृद्धि में अपनी वृद्धि मानता हुआ प्रसन्न होता है और उसके क्षय में अपना क्षय मान कर जो शोक करता है, वह सम्पूर्ण भ्रान्त है । "

इस अविद्या के इस प्रकार के चार पद हैं । यह क्लेश, कर्म तथा विपाक (फल-निष्पत्ति) सहित कर्माशय का मूल है । " अमित्र " तथा " अगोष्पद " (गहन बन) शब्दों की न्याईं इस अविद्या को एक वस्तुतत्त्व (भौतिक सत्ता) रखती हुई समझना होगा । जैसे ' अमित्र ' शब्द का अभिप्राय न मित्र का अभाव तथा न ही किसी विशेष मित्र से है, परन्तु यह मित्र के विपरीत किसी एक व्यक्ति अर्थात् शत्रु को सूचित करता है अथवा " अगोष्पद " शब्द का अभिप्राय न गाय के पदचिन्ह का अभाव तथा न ही किसी विशेष पदचिन्ह से है, परन्तु यह उन दोनों से पृथक् एक स्थान (गहन बन) को सूचित करता है । अतः, अविद्या न सत्यज्ञान है और न ही ज्ञान का अभाव, परन्तु यह अविद्या, विद्या (" वस्तु-ज्ञान ") के विपरीत, सत्यज्ञान का दूसरा (उलटा) रूप है (ङ) ।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

मूलार्थ— " दृक् " और " दर्शन " की शक्तियों का बाह्य एकात्मभाव अस्मिता है–६.

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता । पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते ।

' पुरुष ' ' दृक् ' की शक्ति और ' बुद्धि ' ' दर्शन ' की शक्ति है । इन दोनों का बाह्य एकात्मभाव में बदलना अस्मिता नामक क्लेश कहा गया है (क) ।

भारतीय दर्शन-विज्ञानानुसार मन एक इन्द्रिय है और चित्त को " पुरुष " का यन्त्र माना गया है । ' पुरुष ' को सृष्टिकोटि से ईश्वरीय कोटि में ले जाना ही इस विद्या का उद्देश्य है । (ङ) यह वेदान्त-दर्शन की आनिर्वचनीय ख्याति है । यहां भाष्यकार इस विषय को वेदान्त-दर्शन पर छोड़ देते हैं ।

टि. सू. ६ (क) दृक् की शक्ति ' दृष्टि ' है और दर्शन की शक्ति भी ' दृष्टि ' है, तत्कारण ' शुद्धदृष्टि ' ही अस्मिता है । दृष्टि रखने वाला कर्त्ता (विषयी) द्रष्टा है और दृष्टिगुणसम्पन्न विषय दृश्य है ।

भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते। स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्— "बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन" इति ॥ ६ ॥

एक दूसरे से अत्यन्त पृथक् तथा अत्यन्त असदृश भोक्ता-शक्ति और भोग्य-शक्तियों का अविभेद्य मिथ्या ग्रहण में ही 'भोग' संभव होता है। दूसरी ओर, अपने स्वरूप को पुनर्लाभ करने पर उनमें कैवल्य (वियोग) आता है। तब भोग कहां रहेगा? इसलिये यह भी कहा गया है:— आकार, स्वभाव तथा विद्या द्वारा 'पुरुष' को बुद्धि से परे और पृथक् न देखते हुए जीव को उल्टे ज्ञान से उसी में आत्म-बुद्धि होती है (ख)।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

मूलार्थ— राग (आसक्ति) सुखानुभव के पीछे रहता है-७.

सुखानुशयी रागः। सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णालोभः स राग इति ॥ ७ ॥

सुखानुभव किये हुए मनुष्य को पूर्व सुख की स्मृति से सुख के लिये अथवा इसके साधन के लिये जो इच्छा, तृष्णा तथा लोभ होता है, वह राग है।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

मूलार्थ— द्वेश (विरक्ति) दुःखानुभव के पीछे रहता है-८.

दुःखानुशयी द्वेषः। दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखानुभव किये हुए मनुष्य को पूर्वदुःख की स्मृति से दुःख के लिये अथवा इसके साधन के लिये जो प्रतिकार, शोक, नष्ट करने की इच्छा और क्रोध है, वह द्वेष है।

अतः भोक्ता (विषयी) और भोग्य (विषय) सम्पूर्ण पृथक् होने पर भी शक्ति द्वारा एकरूप हो जाते हैं (शब्दकोष्ठक देखो)।

उत्पत्ति और लय, शक्ति में ही रहते हैं, परन्तु 'शुद्धवस्तु' में नहीं। जैसे यहां एकरूपता से भोग आरंभ होता है, वैसे ही एकरूप होने पर अपवर्ग (मोक्ष) आयेगा (यो. सू. ३। ५४)।

(ख) यहां 'आकार' शब्द शुद्धि को, 'स्वभाव' शब्द निर्लिप्तता को तथा 'विद्या' शब्द शुद्ध तत्त्व रूप चित् (दृक्) को सूचित करता है। इन शब्दों में चेतन-धर्म का आरोप करना यह सूचित करता है कि वह 'पुरुष' साक्षात् प्रत्यक्ष करने की 'वस्तु' है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥ ९॥

मूलार्थ— जीवन से ममता (अभिनिवेश) एक मनोवेग है जो अपनी शक्ति को समान रूप से ज्ञानियों में भी चलाता है-९.

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः। सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते स चायमभिनिवेशः क्लेशः।

सब भूतप्राणियों की यह आत्माशीष नित्य रहती है कि "मेरा अभाव कभी न हो, मैं सदाकाल के लिये जीवित रहूं"। और जिसने मरणधर्म को अनुभव नहीं किया उसे ऐसी आत्माशीष नहीं होती। पुनः, इससे पूर्वजन्म का अनुभव प्रतीत होता है। यही जीवन से ममता (अभिनिवेश) नामक क्लेश है।

स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति।

नये जन्मे कीटों में भी अपनी शक्ति को चलाने वाला तथा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम द्वारा प्रकाश न किये जाने वाला आत्मनाश की भावना के रूप में यह मृत्युभय पूर्वजन्म में अनुभव किये हुए मरणदुःख को सूचित करता है (क)।

यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः। कस्मात्? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासना॥ ९॥

जैसे यह क्लेश अत्यन्त मूढ़ों में देखा जाता है, वैसे ही यह जीवन की आरंभ और अन्तिम सीमा को पूर्णतया जानने वाले ज्ञानियों में भी वर्तमान है (ख)। यह क्यों? कारण, मरणदुःख के अनुभव से उत्पन्न हुआ यह संचित संस्कार (वासना) ज्ञानी व अज्ञानी दोनों के लिये एक समान है (ग)।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।॥ १०॥

मूलार्थ— ये सूक्ष्म होने पर (चित्त के) लय के साथ नष्ट हो जाते हैं-१०.

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति॥ १०॥

योगी के कर्त्तव्यों (भोगापवर्ग) को समाप्त किये हुए चित्त लय होने के साथ दग्धबीज वाले ये पांच क्लेश नष्ट हो जाते है।

टि. सू. ९ (क) पूर्वजन्म के सिद्धान्त को जानने के लिये सब प्रकार के पक्षपाती विचारों से रहित एक बुद्धिमान् विद्यार्थी के लिये यह कथन पर्याप्त है। (ख) ये दो सीमायें पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा हैं, अर्थात् गीता की द्विविध निष्ठा है (भ. गी. ३। ३)। (ग) ज्ञानियों में भी इस संचित संस्कार का प्रभाव कैसे रहता है यह जानने के लिये योगसूत्र के चौथे अध्याय के २७ वें सूत्र को देखो।

ध्यान हेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

मूलार्थ-- उनकी वृत्तियों से ध्यान द्वारा छुटकारा पाना है-११.

स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम्— ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति। यथा च वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात्सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन वा अपनीयते, तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥ ११ ॥

दूसरी ओर, बीजभाव में रहने वाले क्लेशों के संबंध में ध्यान द्वारा उनकी वृत्तियों से छुटकारा पाना है। क्लेशों की जो स्थूल वृत्तियां हैं उन्हें क्रियायोग द्वारा दुर्बल बना कर प्रसंख्यान नामक ध्यानाग्नि द्वारा उनसे छुटकारा पाना है जब तक कि वे सूक्ष्म न बनें तथा दग्धबीज की अवस्था को प्राप्त न हों। जैसे वस्त्र की स्थूल मल पहिले धोयी जाती है और तत्पश्चात् यत्न तथा उपाय द्वारा सूक्ष्म मल को हटाया जाता है, उसी प्रकार क्लेशों की स्थूल वृत्तियां छोटे शत्रु (क) और सूक्ष्म वृत्तियां महाशत्रु (ख) हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

मूलार्थ-क्लेशों में अपना मूल रखने वाले कर्माशय को दृष्ट जन्म या अदृष्ट जन्मों में भोगना है-१२

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रभवः। स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो

इस संबंध में पुण्य व पाप कर्मों का आशय (भंडारघर) काम, क्रोध, लोभ व मोह से उत्पन्न होता है। इसे या दृष्ट जन्म में भोगना है या अदृष्ट जन्मों में। वहां, तीव्र उत्साह से मन्त्र, तप तथा समाधि द्वारा संपादित अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि और महात्माओं की आराधना द्वारा बनाया गया पुण्यकर्माशय तत्काल ही पक जाता है। इसी प्रकार, भय या व्याधि अथवा दुर्बलता के कारण तीव्र क्लेशों से पीडित मनुष्यों के प्रति तथा उसमें विश्वास रखने वाले या महात्मा अथवा तपस्वियों के प्रति पुनः पुनः अपकार द्वारा उत्पन्न पापकर्माशय भी तत्काल ही पक जाता है (फल देता है)। जैसे कुमार नन्दीश्वर मनुष्या-

टि. सू. ११ (क) योग के पांच बहिरंग साधनों के अनुष्ठान अर्थात् बाह्यकर्मों के संपादन द्वारा ही स्थूलमल को हटाया जाता है। (ख) दूसरी ओर, सूक्ष्म मल को योग के तीन अंतरंग साधनों के अनुष्ठान अर्थात् अध्यात्मकर्म के अभ्यास द्वारा नष्ट करना है (यो. सू. २। २९)।

मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः। तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति।

तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥ १२ ॥

कार त्याग कर देवाकार में बदल गया, वैसे ही देवों का अधिपति नहुष भी अपने पुण्यकर्मों से प्राप्त हुआ आकार त्याग कर अजगर में परिणत हुआ।

वहां, पापियों के दृष्ट जन्म (क) में भोगा जाने वाला कर्माशय नहीं होता, वैसे ही जिनके क्लेश नष्ट हो चुके हैं उनके लिये अदृष्ट जन्मों (ख) में भोगा जाने वाला कर्माशय नहीं होता।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

मूलार्थ-- मूल रहने पर उस (कर्माशय) का विपाक जाति, आयुः और भोग को उत्पन्न करता है-१३.

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा।

जब तक क्लेश वर्तमान हैं, कर्माशय फल उत्पन्न करता रहता है; परन्तु क्लेशों का मूल नष्ट होने पर फल नहीं उत्पन्न करता। उदाहरणार्थ-- छिलकों (भूसा) के साथ लगे हुए अथवा दग्धबीज की अवस्था में न आये हुए धान के चावल उगने की शक्ति रखते हैं, परन्तु छिलके उतारे जाने पर अथवा दग्धबीज की अवस्था प्राप्त होने पर ऐसा नहीं होता।

तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीज-

इसी प्रकार, क्लेशों के साथ लगा हुआ कर्माशय फल उत्पन्न करने वाला होता है, परन्तु इससे क्लेश छूट जाने पर (क) अथवा ध्यानाग्नि द्वारा इसके क्लेशों का बीज दग्ध होने पर (ख)

टि. सू. १२ (क) दृष्टजन्म अन्तिमजन्म है। पहिले अध्याय के ४४ वें सूत्र की टिप्पणी अनुसार जो योगी अपनी मृत्यु को देखता है अर्थात् स्वप्न और निद्रा रूप अवस्थाओं पर विजय पा कर अपने सारे जीवनक्रम का द्रष्टा बनता है, उसे पुनर्जन्म में नहीं आना पड़ता। (ख) अदृष्ट जन्म पुनर्जन्म के चक्र को सूचित करता है, कारण अज्ञानी लोग जाग्रत, स्वप्न और निद्रा रूप क्रमिक अवस्था पर विजय नहीं पा सकते। इसलिये वे अपने पूर्ण जीवनक्रम को नहीं देख पाते। अतः उन्हें पुनर्जन्म में आना ही पड़ता है।

टि. सू. १३ (क) यह पहिले अध्याय के १९ वें सूत्र की टिप्पणी अनुसार वैदिककर्मों के संपादन द्वारा विदेहपद की प्राप्ति को सूचित करता है। यह छिलके उतारे हुए चावल के साथ समानता रखता है। (ख) यह

भावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति।

ऐसा नहीं होता। यह फल-निष्पत्ति (विपाक) तीन प्रकार की है यथा जाति, आयुः और भोग।

तत्रेदं विचार्यते- किमेकं कर्म एकस्य जन्मनः कारणम्, अथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति।

इस संबंध में यह विचार करना है कि एक कर्म एक ही जन्म का कारण अथवा एक ही कर्म बहु जन्मों का कारण बनता है।

द्वितीया विचारणा- किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयति अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयतीति।

दूसरा विचार यह है कि अनेक कर्म एक ही जन्म को देने वाले हैं या अनेक कर्म अनेक जन्म उत्पन्न करते हैं।

न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्? अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः सांप्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति।

यह ऐसे नहीं कि एक ही कर्म एक जन्म का कारण है। क्यों? कारण, अनादि काल से तथा वर्तमान काल में भी संग्रह किये हुए असंख्य बचे हुए कर्मों के फलभोग-क्रम में अनियम होने से मनुष्य की रक्षा नहीं होती। तदनुसार यह माननीय नहीं है।

न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्? अनेकेषु कर्मसु एकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति।

पुनः एक ही कर्म अनेक जन्मों का कारण नहीं होता। क्यों? कारण, यदि अनेक कर्मों में से प्रत्येक कर्म अनेक जन्मों का कारण हो तो बचे हुए शेष कर्मों के फलभोग-काल का अभाव आ जाता है। अतः यह भी मानने योग्य नहीं है।

न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्? तदनेकं जन्म युगपन्न संभवतीति क्रमेणैव वाच्यम्। तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः। तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितप्रायेणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य संमूर्छित एकमेव जन्म करोति, तच्च जन्म तेनैव

और न ही अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण होते हैं। क्यों? कारण, अनेक जन्म एक साथ नहीं हो सकते। यह कहना ही पड़ेगा कि ये (जन्म) क्रमपूर्वक आते हैं। अतः यहां भी उक्त दोष आ जाता है। इसलिये जन्म और मृत्यु के मध्य किये गये पाप व पुण्य– कर्माशय की समष्टि विचित्र है और यह प्रधान कारण (ग) सहित सहायक रूप में स्थित है। मृत्यु काल में यह समष्टि प्रकट होती है तथा सम्मिलित शक्ति से मरण को लाकर एकत्रित हो जाती है। यह केवल एक ही जन्म को उत्पन्न करती है

योगाभ्यास द्वारा ध्यानाग्नि से दग्धबीज की तरह मुक्ति की अवस्था है। (ग) यह प्रधान कारण 'प्रकृति' शब्द से तथा गीता के १७ वें अध्याय में 'श्रद्धा' शब्द से कहा गया है। यह गुणों के कार्यसहित सम्मिलित

कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति।

और वह जन्म केवल उसी कर्म द्वारा प्राप्त आयुः के अधीन होता है। उस आयुष्यकाल में केवल उसी कर्म द्वारा भोग संपादित होता है।

असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति।

जन्म, आयुः और भोग का कारण बनने से वह कर्माशय त्रिविध विपाक वाला कहा जाता है। अतः कर्माशय एक ही जीवन को उत्पन्न करने वाला (एकभविक) कहा गया है (घ)।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद्, द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वान्नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति।

जो कर्माशय दृष्टजन्म (अन्तिमजन्म) में भोगा जाने वाला है वह या तो भोग का कारण होने से एक विपाक (फलनिष्पत्ति) का आरंभ करने वाला या आयुः और भोग का हेतु होने से दो विपाकों का आरंभ करने वाला होता है जैसे कि नन्दीश्वर और नहुष के बारे में हुआ (ङ)।

क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्वर्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्छितमिदं चित्तं विचित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति।

क्लेश, कर्म और विपाक द्वारा संपादित संचित संस्कार (वासना) के साथ अनादि काल से ओतप्रोत हुआ यह चित्त सर्वत्र गांठों से युक्त फैले हुए मछली के जाल की न्याईं कई रंगों से रंगा हुआ प्रतीत होता है। अतः ये संचित संस्कार अवश्य ही कई पूर्वजन्मों से उत्पन्न किये गये हैं। यह कर्माशय ही निःसन्देह एकभविक (एक जीवन को उत्पन्न करने वाला) कहा गया है।

हो कर "अन्तर्निहित आदिशक्ति" का रूप धारण करता है (यो. सू. ४।२)। (घ) अन्य सम्प्रदायों में प्रचलित एकजन्मवाद वेदशास्त्रों के इसी दृष्टिकोण से ही आया है, परन्तु उन सिद्धान्तों के अनुगामी लोग इस दृष्टिकोण के आन्तरिक अभिप्राय को पूर्णतया ग्रहण नहीं करते। "एकभविक" (एकही जन्म को देनेवाला) शब्द यह सूचित करता है कि वेदविधि के यथोचित पालन से हम एक ही जन्म में जन्म-मृत्यु की जंजीर तोड़ सकते हैं। इसके बन्धन से मुक्त होने के लिये हमें बहु जन्मों तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। यदि हम सर्वोत्तम अवसर रूप इस जन्म में जंजीर को नहीं तोड़ सकते तो भगवान् ही जाने कि हमारे भविष्य के लिये क्या संचित है। कभी नरक में और कभी मनुष्यलोक में यह (कर्माशय) जन्म पर जन्म उत्पन्न करता ही जायेगा। (ङ) एक विपाक का दृष्टान्त कुमार नन्दीश्वर के बारे में लिखा गया है जिसने, जैसे कि पूर्वसूत्र में वर्णन हुआ है, आठ वर्ष की आयु में अपने पुण्यकर्म के बल से देवपदवी को प्राप्त किया। उसने केवल देवता के भोग को ही प्राप्त किया, परन्तु उसकी आयुः निश्चित नहीं हुई।

ये संस्काराः स्मृतिहेतवो वासनास्ताश्चानादिकालीना इति ।

स्मृति (प्रारब्ध) को उत्पन्न करने वाले ये संस्कार (क्रियमाण कर्म) वासनायें (संचित-कर्म) हैं जो अनादि काल से छिपी हुई पड़ी हैं (च) ।

यस्त्वसावेकभविककर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च । तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्यैव । कस्मात्? यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः । कृतस्याविपक्वस्य विनाशः प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति ।

एक जीवन को उत्पन्न करने वाला वह कर्माशय (आंशिक रूप में) नियतविपाक (जिसकी फलनिष्पत्ति नियत हो चुकी है अर्थात् जो परिपक्व प्रारब्ध के आकार में खड़ा हुआ) है और (आंशिक रूप में) अनियतविपाक (अर्थात् संचित रूप में) है । दृष्ट जन्म में भोगे जाने वाले नियतविपाक के लिये ही यह नियम है परन्तु अदृष्ट जन्मों में भोगे जाने वाले अनियतविपाक के लिये नहीं । क्यों ? कारण, अदृष्ट जन्मों में भोगा जाने वाला जो अनियत-विपाक युक्त कर्माशय है उसकी तीन गति हैं— या उत्पन्न किये गये अपक्वकर्म का विनाश, अथवा प्रधानकर्म में डूबा रहना अथवा नियतविपाक के प्रधान कर्म द्वारा दबा हुआ हो कर दीर्घकाल तक पड़ा रहना ।

तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो, यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य । यत्रेदमुक्तम्— " द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः

वहां, उत्पन्न किये गये अपक्वकर्म का विनाश इस प्रकार है जैसे कि इस जीवन में शुक्ल (सफेद) कर्म के उदय से कृष्ण (काला) कर्म का नाश हो जाता है (छ) । इस संबंध में यह कहा गया है कि— " दो केवलमात्र दो

दो विपाकों का दृष्टान्त नहुष के बारे में है जो दुर्वासा के शाप से अपने पुण्यकर्मों द्वारा प्राप्त हुई देवताओं के शासन-कर्त्ता की पदवी से अधःपतित हो कर आयुः व भोग सहित अजगर की अवस्था को प्राप्त हुआ था और जब तक अर्जुन ने उसका उद्धार नहीं किया, वह उसी स्थिति में रहा।

इससे यह भी स्पष्ट है कि बाह्य पुण्यकर्म द्वारा प्राप्त हुई सफलता के पश्चात् भी गिरावट की संभावना रहती है, परन्तु अध्यात्मकर्म की सहायता से कर्म-क्रम को पूर्णतया समाप्त करने वाले योगी के पतन की ऐसी कोई संभावना नहीं रहती । (च) इससे यह वर्णन हुआ है कि कर्माशय ही स्मृति, संस्कार तथा वासना सहित एकजन्म को उत्पन्न करने वाला कारण है । स्मृति, संस्कार तथा वासना को यथाक्रम प्रारब्ध, क्रियमाण (अर्थात् जो कर्म किये जा रहे हैं) तथा संचितकर्म भी कहा जाता है । (छ) दुर्घटना अथवा उल्टे ज्ञान से शास्त्रविधि के विरुद्ध किये हुए कर्मों को इसी जीवन में शास्त्रविहित प्रायश्चित कर्मों द्वारा नष्ट

पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते "।

ही कर्मों को जानना है, (निषिद्ध) पापकर्मों का एक ढेर (शास्त्रीय) एक ही पुण्यकर्म द्वारा नष्ट होता है; इसलिये तुम इस जीवन में पुण्यकर्म करने की इच्छा रखो, महर्षिजन इस क्रियाविधि का विधान देते हैं।"

प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। यत्रेदमुक्तं — "स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" इति।

प्रधानकर्म में डूबे रहने के संबंध में इसप्रकार कहा गया है— "यदि निःसन्देह वहां (अपुण्य का) अल्पमात्र सम्मिश्रण रहे तो यह दूर किया जा सकता है अथवा सहन किया जा सकता है, यह पुण्य के विरुद्ध हो कर उसे दबाने की शक्ति नहीं रखता"। क्यों? कारण, मेरे बहुत ही पुण्यकर्म हैं जिनमें यह (अपुण्य) डूबा हुआ है, स्वर्ग में भी शायद ही यह किसी प्रकार की हानि लायेगा (ज)।

नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानं, कथमिति? अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्। न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य वा। यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरम-

नियत विपाक के प्रधानकर्म द्वारा दबा हुआ हो कर दीर्घकाल तक पड़ा रहना किस प्रकार का होता है? अदृष्ट जन्मों में भोगा जाने वाला नियतविपाक (प्रारब्धकर्म) के प्रकट होने का सामान्य कारण मृत्यु है, परन्तु अदृष्ट जन्मों में भोगे जाने वाले अनियतविपाक का नहीं (झ)। तो भी, अदृष्ट जन्मों में भोगा जाने वाला अनियतविपाक रूप कर्म नष्ट किया जा सकता है या यह (प्रधानकर्म में) डूबा रह सकता है अथवा दबा हुआ हो कर दीर्घकाल व्यापी तब तक पड़ा रह सकता है जब तक कि उसीप्रकार का

करना है। (ज) यह वर्णन शास्त्राज्ञानुसार संपादन योग्य उन अवश्यकर्त्तव्यों अर्थात् ज्योतिष्टोम यज्ञ, पितृश्राद्ध, दैवयज्ञ तथा महान् अतिथियों के सत्कार आदि का है जहां इन वैधकर्मों को पूर्ण करने के लिये यह यज्ञकर्त्ता पशु मारने में बाध्य होता है। किंचित् अपुण्य से मिश्रित ये कर्म प्रधान कर्म में डूबे रहने के कारण स्वतन्त्र रूप से फल नहीं दे सकते। चीनी के साथ मिली हुई किंचित् इमली की न्याईं इस प्रकार का अपुण्यकर्म एक विशेष स्वाद रखता है। (झ) "मृत्यु ही सामान्य कारण है"— इस कथन का अभिप्राय यह है कि मृत्यु एक ऐसा सन्धिस्थल है जहां पिछली प्रारब्ध (नियतविपाक) समाप्त हो जाती है और अगले जन्म के भोग के लिये संचितकर्मों में से कुछ कर्म प्रधानकर्म के साथ संयुक्त हो कर

स्युपासीत, यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति ।

तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति । न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ॥ १३ ॥

उद्‌बोधक कारण रूप कर्म उसे प्रकट करने के लिये विपाक की ओर न ले जाये (ञ) ।

पुनः, देश, काल और उद्‌बोधक कारण के निर्धारण का अभाव होने से उस विपाक की कर्मगति विचित्र तथा कठिनाई से जानी जाती है (ट) । और भी, " अपवाद (व्यतिक्रमनियम) द्वारा प्रधान नियम का निषेध नहीं होता, "— यह विधि एक ही जीवन को उत्पन्न करने वाले (एकभविक) कर्माशय द्वारा सूचित होती है (ठ) ।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

मूलार्थ— पाप और पुण्य से उत्पन्न होने के कारण वे दुःख व सुख रूप फलों से युक्त होते हैं-१४.

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् । ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफलाः, अपुण्य-

वे अर्थात् जन्म, आयुः और भोग पुण्य से उत्पन्न होने पर सुखरूप फल वाले होते हैं तथा

खड़े होते हैं । (ञ) चौथे अध्याय के २-९ वें सूत्र में (विशेषतः ९ वें में) इस विषय का पूर्णतया वर्णन किया जायेगा । (ट) " कठिनाई से जानी जाती है "— इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि कर्मगति बिल्कुल ही नहीं जानी जा सकती । प्रज्ञादृष्टि को खोलने पर योगी इस कर्मगति को देख सकता है ।

कई यह विचार कर सकते हैं कि इस प्रकार का कथन प्रलोभनमात्र है, परन्तु वास्तव में यह नहीं है । आओ हम भौतिक विज्ञान को ध्यानपूर्वक देखें । चेतन मन और अचेतन (जड़)-पदार्थों की सत्ता को कोई भी मनुष्य अस्वीकार नहीं कर सकता । जब अचेतन पदार्थों के इतने वैज्ञानिक आविष्कार हो सकते हैं तो क्या चेतन-सत्ता के नहीं हो सकते ? चेतन-सत्ता के वैज्ञानिक आविष्कारों को विशद-रूप में दिखाने के लिये योगसूत्र ही एकमात्र विज्ञान है । उन आविष्कारों का पूर्ण विवरण तीसरे अध्याय में दिया जायेगा ।

बिना यथायोग साधन के कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता । दूरबीन तथा अन्य यन्त्रों की सहायता बिना कोई भी मनुष्य नक्षत्रादि का गति-विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता । नक्षत्रादि की गति भौतिक विज्ञान है, इसीलिये भौतिक यन्त्र सहकारी होते हैं । स्वप्नकाल की प्यास स्वाप्निक जल से मिटाई जाती है और जाग्रतकाल की प्यास वास्तविक जल से बुझाई जाती है, इसके विपरीत नियम से यह कार्य सिद्ध नहीं होता । इसीप्रकार चित्त अध्यात्मवस्तु है, अतः इसके पूर्णज्ञान के लिये अध्यात्म-यन्त्रों की ही आवश्यकता है, न कि भौतिक यन्त्रों की । आओ हम यथाविधि साधनों से अध्यात्मशक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें ताकि इन सब वस्तुओं को अपनी आंखों के सामने देख सकें । (ठ) मानवीय जीवन का प्रधान कारण बाह्यकर्म ही है, इसलिये भाष्यकार का यह अभिप्राय है कि बाह्यकर्म के नियम का सम्पूर्ण नाश केवलमात्र बाह्यकर्म की सहायता से नहीं हो सकता । यद्यपि आरंभ में यह बाह्यकर्म अनिवार्य रूप में आवश्यक है, तथापि अन्त में सब कर्मों की परिसमाप्ति के लिये अध्यात्मकर्म ही अतीव आवश्यक है (यो. सू. २।२१; ४।६) ।

हेतुका दुःखफला इति । यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥ १४ ॥

पाप से उत्पन्न होने पर वे दुःख रूप फल वाले होते हैं। जैसे यह दुःख प्रतिकूल स्वभाव वाला है, वैसे ही विषय-भोगकाल में भी (महाव्रत के योग्य) योगी के लिये यह प्रतिकूल स्वभाव वाला दुःख निःसन्देह वर्तमान रहता है।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

मूलार्थ— परिणाम, ताप और संस्कारों के दुःख के कारण तथा गुणों की वृत्तियों में विरोध रहने के कारण विवेकी के लिये सब कुछ दुःख रूप है—१५.

कथं तदुपपद्यते? परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति। तत्रास्ति रागजः कर्माशयः।

यह कैसे संभव होता है? परिणाम, ताप और संस्कारों के दुःख के कारण तथा गुणों की वृत्तियों में विरोध रहने के कारण विवेकी (महाव्रत के योगी) के लिये सब कुछ दुःख रूप है। आसक्ति में ओतप्रोत हो कर यह सुखानुभव सब के लिये चेतन (क) और अचेतन साधन के अधीन होता है। इसलिये वहां आसक्ति से उत्पन्न कर्माशय रहता है।

तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति। द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः। तथा चोक्तम्—"नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवति" इति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति। विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्।

पुनः दुःख के साधनों के प्रति घृणा करने, तथा मोह का शिकार बनने के कारण वहां भी द्वेष तथा मोह से उत्पन्न हुआ कर्माशय रहता है। और यह भी कहा गया है कि भूतप्राणियों की हिंसा किये बिना उपभोग संभव नहीं होता। अतः दूसरों के प्रति हिंसा से उत्पन्न वहां एक शरीर संबंधीय कर्माशय भी है। तथा विषयसुख को अविद्या ही कहा गया है।

या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। कस्मात्?

विषय-भोग के पश्चात् तृप्ति से उत्पन्न इन्द्रियों का जो संतोष है, वही सुख है और लालसा के कारण जो असंतोष है वही दुःख है। पुनः भोगाभ्यास द्वारा इन्द्रियों को तृष्णा से मुक्त नहीं किया जा सकता। क्यों? कारण, भोगाभ्यास

टि. सू. १५ (क) चेतन-साधन चित्त रूप अन्तःकरण तथा अचेतन-साधन शरीर रूप बाह्यकरण है।

यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः, कौशलानि चेन्द्रियाणामिति। तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति।

आसक्ति तथा इन्द्रियों की कुशलता को बढ़ाता है। इसलिये भोगाभ्यास (चरम) सुख का उपाय नहीं है।

स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपंके निमग्न इति। एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति।

विषयभोगेच्छा में तल्लीन हो कर जो सुख पाना चाहता है, वह वास्तव में उस मनुष्य की न्याईं दुःख रूपी घोर दलदल में फंस जाता है जो (महाव्रत रूप) बिच्छु के विष से भयभीत हो कर (संसार रूप) नाग से काटा जाये। निःसन्देह प्रतिकूल स्वभाव वाले परिणाम का यह दुःख केवल योगी को ही विषयसुख-भोग के काल में भी पीड़ित करता है।

अथ का तापदुःखता? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति। तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते। ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते।

अब ताप का दुःख क्या है? द्वेष में ओतप्रोत ताप का अनुभव सब के लिये चेतन व अचेतन साधनों के अधीन होता है। वहां भी द्वेष से उत्पन्न कर्माशय रहता है। पुनः सुख के साधनों की इच्छा रखता हुआ मनुष्य शरीर, मन व वाणी द्वारा चालित होता है जिससे वह दूसरों पर अनुग्रह करता है तथा दुःख पहुंचाता है। अतः दूसरों के प्रति अनुग्रह तथा हिंसा द्वारा मनुष्य पुण्य व पाप को संग्रह करता है। यह कर्माशय द्वेष और मोह से उत्पन्न होता है। यही ताप का दुःख कहा जाता है।

का पुनः संस्कारदुःखता? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति। एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति।

पुनः संस्कारों का दुःख क्या है? सुख के अनुभव से सुख-संस्कार का आशय तथा दुःख के अनुभव से दुःख-संस्कार का आशय बनता है। अतः विपाक में अनुभव किये जाने वाले सुख और दुःख द्वारा पुनः कर्मों से ही कर्माशय की समष्टि बनती है।

एवमिदमनादिदुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति। कस्मात्?

अतः यह अनादि दुःख का प्रवाह प्रतिकूल स्वभाव वाला होने के कारण केवल उन्नत योगी (ख) को ही उद्वेग पहुंचाता है। क्यों? कारण,

---

(ख) यहां "उन्नत योगी" शब्द महाव्रत के योग्य पुरुष को सूचित करता है। यह विषय गीता में पूर्णतया वर्णित हो चुका है (यो. सू. २।३१)।

अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति । यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखान्यक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् ।

विवेकी आंख की पुतली के समान कोमल होता है । जैसे रेशमी धागा आंख की पुतली में लग कर केवल स्पर्श से ही उसे दुःख पहुंचाता है, परन्तु शरीर के अन्य अंगों को नहीं; वैसे ही यह दुःख भी आंख की पुतली के समान केवल योगी को ही दुःखी करते हैं, परन्तु दूसरे भोगी को नहीं ।

इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहंकारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते । तदेवमनादिना दुःखस्रोतसा व्यूह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति ।

इसके विपरीत, (योगी से पृथक्) जो मनुष्य अपने कर्म से उपार्जित दुःख को पुनः पुनः पा कर त्यागता है और फिर पुनः पुनः त्याग कर इसे ग्रहण करता है तथा जो अनादि संचित संस्कारों के नाना रंग से रंगी हुई चित्तवृत्ति सहित अविद्या से पूर्णतया ओतप्रोत हुआ सा प्रतीत होता है और जो त्यागने योग्य विषयों में केवल " मैं पन " और " मेरा पन " के पीछे चलता हुआ बार बार जन्म लेता है, उसी मनुष्य में बाह्य तथा आध्यात्मिक (ग)— इन दोनों साधनों से उत्पन्न तीन गांठों वाले दुःखों का प्रवाह बहता रहता है । इस प्रकार योगी अपने को तथा सब भूतप्राणियों को अनादि दुःख-प्रवाह से घीरा हुआ देख कर सब दुःखों का नाशक सम्यग्-दर्शन की शरण लेता है ।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः- प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतंत्रीभूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते । चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । रूपातिशया वृत्त्य-

अब " गुण-वृत्तियों में विरोध रहने के कारण विवेकी के लिये सब दुःख रूप है "— इस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रकाश (सत्त्व), क्रिया (रजः) तथा स्थिति (कर्मशून्य तमः) के आकार में बुद्धि के गुण एक दूसरे के आश्रय की जंजीर बन कर शांत, क्षुब्ध और मूढ़,— इन तीन गुणों वाले ज्ञान को आरंभ करता है । पुनः गुणों का कार्य सदा परिवर्तनशील होने के कारण

(ग) बाह्य और आध्यात्मिक साधन अचेतन व चेतन साधन रूप शरीर व अन्तःकरण को सूचित करते हैं । तीन गांठों वाले दुःखों के लिये पहिले अध्याय का २१ वां सूत्र देखो ।

तिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या । तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः ।

चित्त को शीघ्र परिणाम वाला कहा गया है । ये (गुण) अतिशय रूप वाले तथा अतिशय कर्म वाले हो कर एक दूसरे का विरोध करते हैं । इनके सामान्य व्यापार अतिशय के साथ काम करते हैं । इस प्रकार, ये गुण एक दूसरे के आश्रय से उपार्जित सुख, दुःख और मोह के ज्ञान वाले हो कर सब और सब का रूप बन जाते हैं; प्रधान गुण के व्यक्त भाव द्वारा उनकी विशिष्टता पाई जाती है । अतः विवेकी के लिये सब दुःख रूप है । अविद्या ही दुःख रूपी इस महान् ढेर को उत्पन्न करने वाला बीज है और सम्यग्दर्शन इसके अभाव का कारण होता है ।

यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्— रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय एवेति । तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः । प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः । संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् । हानोपायः सम्यग्दर्शनम् ।

जैसे चिकित्सा विद्या के चार विभाग हैं यथा रोग, रोग का कारण, रोगमुक्ति तथा औषधि; इसी प्रकार इस विद्या के भी चार विभाग हैं यथा संसार, संसार का कारण, मोक्ष तथा मोक्ष का उपाय । वहां, संसार दुःख से परिपूर्ण होने पर ' हेय ' (त्यागने योग्य) है, " प्रधान " और " पुरुष " का संयोग " हेय " का कारण है, संयोग की पूर्ण निवृत्ति " हान " (मोक्ष) है और सम्यग्-दर्शन " हान का उपाय " है (घ) ।

तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हतीति । हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः । उपादाने च हेतुवादः । उभयप्रत्याख्याने शाश्वत-

वहां, " हाता " (त्यागने वाला) का स्वरूप न त्यागने योग्य है और न ही ग्रहण करने योग्य है । त्याग के बारे में उसके विनाश का प्रसंग आ जाता है । ग्रहण के संबंध में (किसी दूसरे) पूर्ववर्ती कारण का कथन आ जाता है । दोनों को त्यागने पर नित्यता का प्रसंग रह जाता है । इसलिये, इसे ' सम्यग्दर्शन ' नाम दिया गया है

(घ) ये इस विद्या के पारिभाषिक शब्द हैं । ' हेय ', ' हेयहेतु ', ' हान ' और ' हानोपाय ' यथाक्रम, सांसारिक जीवन, सांसारिक जीवन का कारण, मोक्ष तथा मोक्ष के उपाय को सूचित करते हैं ।

वाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्। तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते ॥ १५ ॥

(ङ)। अतः यह विद्या चार विभागों वाली कही जाती है।

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

मूलार्थ— जो दुःख (जन्म) अभी तक नहीं आया, वह " हेय " है—१६.

हेयं दुःखमनागतम्। दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते। वर्तमानं च स्वक्षणोपभोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति नेतरं प्रतिपत्तारं, तदेव हेयतामापद्यते। तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते ॥ १६ ॥

जो बीता हुआ दुःख (जन्म) उपभोग द्वारा व्यतीत हो चुका है, वह "हेय" के पक्ष में नहीं ठहरता। वर्तमान दुःख अपने भोग के क्षण पर आरूढ़ है, इसलिये दूसरे क्षण में यह 'हेय' पक्ष में नहीं आता। तत्कारण जो दुःख (जन्म) अभी तक नहीं आया वह आंख की पुतली की न्याईं केवल भोगी को ही दुःखी करता है, परन्तु दूसरे किसी योगी को क्लेश नहीं देता। केवलमात्र वही दुःख 'हेय' पक्ष में आता है (क)। अतः इसी को ही 'हेय' कहा जाता है तथा इसके कारण का वर्णन किया जाता है।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

मूलार्थ-- द्रष्टा और दृश्य का संयोग 'हेय' का कारण है— १७.

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः। तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं

बुद्धि में से प्रतिबिंबित रूप में जानने वाला पुरुष ही द्रष्टा है। बुद्धिसत्त्व ('प्रधान') में उपस्थित सब धर्म दृश्य हैं। चुंबक की न्याईं यह दृश्य अपने दृश्यत्व के भाव से 'दृशिः' के बाह्य रूप वाले

(ङ) यहां वेदान्त-दर्शन द्वारा गृहीत अनिर्वचनीय ख्याति को संकेत करते हुए भाष्यकार इस विषय को वेदान्त-दर्शन पर छोड़ देते हैं, कारण कर्त्ता का स्वरूप शुद्ध 'वस्तुतत्त्व' है। जीवात्मा के निर्वाण-मोक्ष के लिये शास्त्रविहित क्रमिक पदों को हमें सदा ध्यान में रखना है। यह विद्या कर्मभूमि के साथ संबंध रखती है और वेदान्त-दर्शन कर्मभूमि के पार शुद्ध तत्त्व 'वस्तु' को दिखाता है। त्याग और ग्रहण कर्माधीन होने से शुद्ध तत्त्व 'वस्तु' में नहीं रह सकता।

सू. १६ (क) यहां भाष्यकार हमें भविष्य जन्म के लिये सावधान होने की सूचना देते हैं जिसे दुःख शब्द में कहा गया है।

सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः।

अनुभवकर्मविषयतामापन्नं यतोऽयःस्वरूपेण प्रतिपन्नमन्यस्वरूपप्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम् । तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः।

अपने पति 'पुरुष' की शुद्ध समीपता के कारण सहायकारी साथी बन जाता है।

अनुभव रूप कर्मक्षेत्र के भाव को प्राप्त हुआ यह (दृश्य) लोहे की न्याईं अपने स्वरूप में सिद्ध होने के कारण प्रतिबिंब द्वारा 'दूसरे' (अर्थात् "पुरुष") से प्राप्त हुए स्वरूप वाला बन जाता है, स्वतन्त्र होने पर भी यह परतन्त्र हो जाता है क्योंकि यह 'दूसरे' के अर्थ (भोगापवर्ग) को पूर्ण करता है। 'दृक्' की शक्ति तथा 'दर्शन' की शक्ति— इन दोनों का अनादि संकल्प से उत्पन्न संयोग ही "हेय-हेतु" अर्थात् दुःख (जन्म) का कारण है। यही अभिप्राय है (क)।

तथा चोक्तम्— "तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः।" कस्मात्? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा पादतलस्य भेद्यता कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन चाधिष्ठानम्।

इसप्रकार यह भी कहा गया है कि उस संयोग के कारण को पूर्णतया त्यागने से दुःख का यह पूर्ण प्रतीकार होता है। क्यों? कारण, त्यागने योग्य दुःख के कारण का प्रतीकार देखा जाता है। यह इसप्रकार है:— पदतल का गुण वेधा जाना है और कांटा भेदने की शक्ति रखता है, अतः प्रतीकार यह है कि पांव को कांटे पर न रखना अथवा जूते द्वारा इसे पृथक् रखना।

एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमा-

संसार में जो इन तीन की समष्टि को जानता है, वह इस संबंध में कहे गये प्रतीकार को

टि. सू. १७ (क) यहां इस विद्या में भाष्यकार 'संयोग' को 'संकल्प' से उत्पन्न हुआ कहते हैं, परन्तु वेदान्त-दर्शन सृष्टि को आकस्मिकी (अचानक) मानता है। अतः हम में से कई इन्हें मतविरुद्ध मान सकते हैं। परन्तु वास्तव में यह ऐसे नहीं है। शब्दकोष्ठक से यह स्पष्ट है कि 'ब्रह्म' क्लीव (नपुंसक) है, परन्तु उत्पन्न करने वाली माया रूप शक्ति से अचानक युक्त होकर पुंलिंग 'ब्रह्मा' होता है। तत्पश्चात्, उसमें बहु होने का संकल्प आता है। और फिर वह नाशवान् प्रजा के नाशरहित सक्रिय सृष्टिकर्त्ता के रूप में "दृष्टि" का रूप धारण करता है। इस 'दृष्टि' से 'सृष्टि' उत्पन्न होती है। तदनुसार हमें यह नहीं भूलना होगा कि योगसूत्र कर्मभूमि को दिखाते हुए ध्येयब्रह्म के साथ संबंध रखता है और वेदान्त-दर्शन कर्मभूमि के पार ज्ञेयब्रह्म रूप शुद्धतत्त्व "वस्तु" को दर्शाता है। अतः यह सिद्ध है कि दोनों पुरुषार्थों की पूर्ति पर अर्थात् साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होने के पश्चात् योगी सारी सृष्टि को आकस्मिकी

रभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति। कस्मात्? त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति।"

अपनाता हुआ कांटा लगने से उत्पन्न दुःख को प्राप्त नहीं होता। कैसे? त्रिविध सत्य को जानने की शक्ति के कारण ही।

अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम्। कस्मात्? तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे दर्शित-विषयत्वात्। सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति॥ १७॥

यहां भी रजोगुण दुःख देने वाली शक्ति रखता है और सत्त्व (गुण) निःसन्देह दुःख पाता है। क्यों? कारण, 'तप्' (दुःख देना) क्रिया (धातु) अपने कर्म (विषय) में रहती है। अतः, दुःख देना रूप क्रिया सत्त्व रूप कर्म (विषय) में रहती है। यह अपरिणामी तथा निष्क्रिय (विषयी) क्षेत्रज्ञ (ख) में नहीं रह सकती, कारण, (विषयी) क्षेत्रज्ञ को विषय दिखाये जाते हैं। जब सत्त्व को दुःख पहुंचता है तो उस आकार के पीछे चलने वाला "पुरुष" प्रतिबिंबित रूप में दुःख पाता है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्॥ १८॥

मूलार्थ— प्रकाश (सत्त्व), क्रिया (रजः) और स्थिति (कर्मशून्य तमः) गुण वाला, भूत व इन्द्रियों के तत्त्व को रखने वाला तथा भोग और अपवर्ग रूपी पुरुषार्थों से युक्त दृश्य है— १८.

दृश्यस्वरूपमुच्यते— प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। प्रकाशशीलं सत्त्वम्। क्रियाशीलं रजः स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्ति-

दृश्य का स्वरूप वर्णन किया जा रहा है। प्रकाश, क्रिया और स्थिति गुणवाला, भूत व इन्द्रियों के तत्त्व को रखने वाला तथा भोग और अपवर्ग रूपी पुरुषार्थों से युक्त दृश्य है। सत्त्व-गुण प्रकाशस्वरूप वाला है, रजः क्रियास्वभाव वाला तथा तमः कर्मशून्य स्वभाव वाला है। ये गुण एक दूसरे के रंग रखते हुए भी पृथक् स्वरूप वाले हैं, ये परिणामी तथा संयोग और वियोग धर्म वाले हैं। ये एक दूसरे के आश्रय से व्यक्त भाव को प्राप्त होते हैं। ये अंग-अंगी का संबंध रखने पर भी एक सम्मिलित शक्ति के विभाग हैं, ये

देखेगा, परन्तु साधनकाल में नहीं। (ख) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को जानने के लिये गीता का १३ वां अध्याय देखो। संक्षेपतः क्षेत्र समग्र परिणामसहित 'प्रधान' नामक दृश्य है।

प्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधानागुणत्वेऽपि व्यापारमात्रेण च प्रधानान्तरणीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति । एतद्दृश्यमित्युच्यते ।

समान तथा असमान जाति की शक्ति के भेद के पीछे चलने वाले हैं । ये मुख्य कारण के क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दिखाने वाले हैं । ये परस्पर मित्र-भाव रखते हुए भी प्रत्येक कर्म से मुख्य कारण के विरोध में रहने वाले माने जाते हैं । 'पुरुष' के अर्थ को पूर्ण करने का कर्त्तव्य ले कर ये नियुक्त होने की शक्ति रखने वाले हैं । शुद्ध समीपता के कारण ये चुंबक की न्याईं ('पुरुष' के) सहायकारी बन जाते हैं। उद्बोधक कारण बिना ये अपने में से एक ही के कार्य पूर्ण करने में सहायता देने वाले हैं तथा 'प्रधान' नाम से कहे जाते हैं। इसी को ही दृश्य कहा जाता है (क)।

तदेतद्भूतेन्द्रियात्मकं—भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते। तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति । तत्तु नाप्रयोजनं, प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति । भोगापवर्गार्थं हि तद्दृश्यं पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगो, भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति । द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति । तथा चोक्तम्— "अयं

दृश्य इन्द्रिय तथा भूतों के तत्त्व को रखने वाला है। भूतभाव लेकर यह (दृश्य) सूक्ष्म और स्थूल पृथ्वी आदि में परिणत होता है; इसी-प्रकार इन्द्रियों का भाव ले कर यह सूक्ष्म और स्थूल कान आदि में परिणत होता है (ख), यह (दृश्य) बिना प्रयोजन के नहीं है, परन्तु यह एक निश्चित प्रयोजन को सामने रख कर क्रियावान् होता है; कारण यह दृश्य 'पुरुष' के भोग व अपवर्ग रूपी दो अर्थों को पूर्ण करने का उद्देश्य रखता है। यहां इष्ट शक्ति ('पुरुष') और अनिष्ट शक्ति ('प्रधान') के स्वरूप को अविभक्त रूप में निर्धारण करना ही भोग है तथा भोक्ता ('पुरुष') का स्वरूप निर्धारण अपवर्ग है। इन दोनों को छोड़कर और कोई दर्शन नहीं

टि. सू. १८ (क) ये तीन गुण 'प्रधान' नामक एक ही स्थान के निवासी हैं। इसलिये घर में एक होने पर भी कार्यकाल में ये यमज (जोड़े) भाइयों की न्याईं परस्पर मित्र तथा शत्रुभाव से कर्म करते हैं। इन तीन गुणों के कार्य रूप यही नियम पशुओं में भी लागू होता है। प्रेम और मैत्रीभाव के बन्धन से वे दलबद्ध हो कर रहते हैं, परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थ संबंधीय विषयों पर पुनः लड़ते हैं। भाष्य में इन गुणों का स्वरूप बड़ी सुन्दरतापूर्वक वर्णित हुआ है। (ख) 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' शब्द- भूतभाव के संबंध में सूक्ष्मतन्मात्र और स्थूल भूत को सूचित करते हैं; तथा इन्द्रियों के संबंध में भी ये (शब्द)

तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान्त्सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छंकते", इति।

है। इसीलिये यह भी कहा गया है कि कर्त्ता रूप तीन गुणों में तथा समान और असमान जातीय (ग) एवं उनकी क्रियाओं के साक्षी निःसन्देह चौथे निष्क्रिय 'पुरुष' में भी सारे व्यक्त भाव की उपस्थिति के दर्शन से पृथक् किसी दूसरे अदर्शन (अज्ञान) में संशय होता है।

तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति? यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते स हि तत्फलस्य भोक्तेति। एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भोक्तेति। बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति।

बुद्धि द्वारा उत्पन्न किये हुए तथा केवल बुद्धि में ही वर्तमान रहते हुए ये दो भोग (घ) व अपवर्ग कैसे 'पुरुष' में आरोपित होते हैं? जैसे योद्धाओं की जय अथवा पराजय का आरोप उनके स्वामी पर किया जाता है, क्योंकि वही उस फल का भोक्ता है; इसीप्रकार बन्धन और मोक्ष बुद्धि में ही रहते हुए 'पुरुष' पर आरोपित होते हैं, कारण वही उस फल का भोक्ता है। 'पुरुष' के अर्थों की परिसमाप्ति न होने तक बुद्धि बन्धन में रहती है और उन अर्थों की पूर्ति ही उसका मोक्ष है।

एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः, स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥ १८ ॥

इससे यह स्थापित होता है कि ग्रहण, धारणा, ऊह (विचारशक्ति), अपोह (भ्रांतित्याग), तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश (दृढ़निश्चय) बुद्धि (ङ) में वर्तमान रहते हुए भ्रमपूर्वक 'पुरुष' में आरोपित होते हैं क्योंकि वह उस फल का भोक्ता है।

अनुभव की सूक्ष्म शक्ति और स्थूल इन्द्रियों को सूचित करते हैं। (ग) इससे भाष्यकार वेदान्त-दर्शन की आधार रूप माया (आत्म-ख्यापन करने वाली शक्ति) की अनिर्वचनीय ख्याति को दर्शाते हैं। उदाहरणार्थ :— बर्फ़ स्वयं गैस बिना कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, परन्तु फिर भी वही बर्फ़ शुद्ध तत्त्व गैस नहीं है। अतः "अनिर्वचनीय" शब्द का अर्थ "एक दृष्टिकोण से वर्णन न होने योग्य" है।

(घ) 'भोग' शब्द सुख-दुःख इन दोनों के अनुभव को सूचित करता है।

(ङ) आधुनिक साम्प्रदायिक गुरु 'पुरुष' (ईश्वर) को इन छः कल्याणगुणों से युक्त मानते हैं, परन्तु भाष्यकार ने इन्हें स्पष्टतः बुद्धि का ही गुण कहा है। उनका मिथ्या प्रचार आजकल असंख्य सम्प्रदायों के मध्य झगड़े का विषय बन गया है। यदि हम इस भाष्य में भाष्यकार के अभिप्राय को ध्यानपूर्वक ग्रहण कर सकें तो उन स्वार्थपूर्ण साम्प्रदायिक मतवादों को कहीं भी स्थान नहीं रहता।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

मूलार्थ— विशेष, अविशेष, लिंगमात्र तथा अलिंग— ये गुणपर्व हैं— १९.

दृश्यानां तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते— विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि । तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः ।

दृश्य अर्थात् गुणों के स्वरूपभेद निर्धारण के उद्देश्य से ही यह सूत्र आरंभ होता है । विशेष, अविशेष, लिंगमात्र तथा अलिंग—ये गुणपर्व हैं । वहां आकाश, वायु, अग्नि, जल और मिट्टी—ये पंच भूत शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, और गन्धतन्मात्र नामक अविशेष भूतों के विशेष रूप हैं ।

तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थमित्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः । गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः ।

इसीप्रकार, कान, त्वचा, आंख, जिह्वा और नाक—ये ज्ञानेन्द्रियां हैं । मुख (वाक्), हाथ, पांव, गुदा और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियां हैं । सब अर्थों को पूरा करने वाला मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है (क) । ये (ग्यारह इन्द्रियां) अस्मिता लक्षण वाले अविशेष का विशेष रूप हैं । गुणों के ये सोलह विशेष परिणाम हैं ।

षडविशेषाः तद्यथा शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेति । एकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः

शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, तथा (उत्तरवर्ती अहंकार) —ये छः अविशेष हैं । ये पांच अविशेष यथाक्रम एक, दो, तीन, चार, और पांच लक्षण वाले हैं जैसे शब्दादि (ख) । छठवां अविशेष

टि. सू. १९ (क) " सर्वार्थ मन " (सब अर्थों को पूर्ण करने वाला मन) शब्द का यह अर्थ है कि विशेष पर्व से अलिंग गुणपर्व तक सारे पर्वों से मन ही गुजरता है । यह मन ' वस्तु ' नामक ' प्रधान ' की बाह्य अभिव्यक्ति (व्यक्त रूप) है । एक ओर से यह कर्त्ता, दूसरी ओर से कर्म और तीसरी ओर से करण बनता है । विभिन्न अवस्थाओं के भिन्न भिन्न रूप मन में ही केन्द्रित हैं । सृष्टिक्रम में अपनी सारी विचित्रताओं के साथ यह मन ' वस्तु ' से आता है और फिर मोक्षकाल में उन सब को अपने अन्दर लेता हुआ अपने आदिकारण (प्रधान) में लय हो जाता है । दूसरे शब्दों में व्युत्थान संस्कार के साथ रहता हुआ मन भोगरूप अर्थ को पूर्ण करता है । दूसरी ओर, निरोधमुखी संस्कारों से सिद्ध हो कर यह मोक्षरूप अर्थ को पूर्ण करता है । पुनः यह विशेष-गुणपर्व वितर्क और विचार नामक समाधि का विषय है तथा गीता की 'अधिभूत' नामक स्थूल और सूक्ष्म समाधि-प्रज्ञा है । (ख) आकाशतन्मात्र का एक लक्षण है यथा शब्द; वायु के दो यथा शब्द और स्पर्श; रूप के तीन अर्थात् शब्द, स्पर्श और रूप; रस के चार यथा शब्द, स्पर्श; रूप और रस; तथा गन्ध के पांच हैं अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ।

षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति । एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः ।

यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति । प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्ति । एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामो निःसत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति ।

केवल अस्मिता (अहंकार) है (ग) । ये सत्तामात्र महदात्मा के अविशेष परिणाम हैं ।

जो अविशेष से परे लिंगमात्र है वही महत्तत्त्व (घ) है । उस सत्तामात्र महदात्मा (एकजीव) में रहते हुए ये (अविशेष) वृद्धि की चरमसीमा को पहुंचते हैं । लयक्रम में जाते हुए ये उसी सत्तामात्र महदात्मा में ही रहते हुए न सत्ता और न असत्ता, न सत् और न असत् परन्तु असत् नहीं—ऐसे अव्यक्त तथा अलिंग 'प्रधान' (ङ) में लय हो जाते हैं । यह (महत्तत्त्व) उन (गुणों) का लिंगमात्र परिणाम है और जो न सत्ता तथा न असत्ता है वह उनका अलिंग परिणाम है ।

अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुर्नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति । न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवतीति । नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते ।

अलिंग अवस्था (जो आकस्मिकी है) में 'पुरुष' का अर्थ परिणाम का कारण नहीं बनता, क्योंकि अलिंग के आदि में 'पुरुष' का अर्थ (संकल्प) कारण नहीं होता । 'पुरुष' का अर्थ उस (अलिंगावस्था) का कारण कभी नहीं हो सकता । यह (अलिंगावस्था) 'पुरुष' के अर्थ द्वारा उत्पन्न नहीं की गई है, इसलिये यह नित्य (च) कहलाती है ।

(ग) आधुनिक भौतिक-विज्ञान गुणों के अविशेष-पर्व तक पहुंच सकता है । वैज्ञानिक इन पाच तन्मात्राओं को इलैक्टरोन तथा अहंकार को प्रोटोन कह सकते हैं । इसीलिये यह अविशेष-गुणपर्व भौतिक विज्ञान की अन्तिम सीमा है । यह पर्व समाधि की करणग्राह्य तथा आनन्द-आलंबन रूप प्रज्ञा है एवं स्वप्नज्ञान का आलंबन, गीता का 'अधिदैव' तथा अहंग्राह्यप्रज्ञा का पूर्व लक्षण है । (घ) यह लिंगमात्र पर्व संप्रज्ञात समाधि की निर्विचार-समापत्ति तथा एकात्म-ज्ञान वाली अहंग्राह्यप्रज्ञा, निद्राज्ञान का आलंबन और गीता की 'अधियज्ञ' रूप प्रज्ञा है। पुनः वेदान्त-दर्शन में इस महत्तत्त्व को एकजीव अथवा सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के नाम से कहा गया है । वह मन के व्युत्थान संस्कार द्वारा कभी भी प्रत्यक्ष या प्राप्त नहीं किया जा सकता । अतः यह आधुनिक वैज्ञानिकों के क्षेत्र से परे तथा सृष्टि का आधार है । (ङ) भारतीय दर्शन-विज्ञानानुसार यह अलिंग-गुणपर्व 'वस्तु' का भौतिक रूप है । इसे मूला प्रकृति तथा 'सत्त्व' भी कहा जाता है । (च) वेदान्त दर्शन में यह कोटि 'पुरुष' की शक्ति अथवा उपाधि मानी जायेगी और 'पुरुष' को वहां 'वस्तु' कहा जायेगा, कारण वेदान्त-दर्शन के साथ योगसूत्र का संबंध दिखाने के उद्देश्य से ही भाष्यकार इस अलिंग-पर्व को गुणों का एक परिणाम कहते हैं । पुनः प्रथम अध्याय में ईश्वर के वर्णन-संबंध में यह पहिले ही कहा जा चुका है कि 'वस्तु' की शक्ति अथवा उपाधि बद भी

त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। स चार्थो हेतुर्निमित्तकारणं भवतीत्यनित्याख्यायते।

दूसरी ओर, अन्य तीन अवस्था-विशेषों (व्यक्त पर्वों) के आदि में 'पुरुष' का अर्थ कारण बनता है। पुनः यह संकल्प साधक (करने वाला), उद्बोधक तथा उपादान कारण होता है, इसलिये 'इसे' (एकजीव को) अनित्य कहा जाता है (छ)।

गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते। व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते।

तो भी, गुण सब धर्मों के पीछे चलते हुए न लय होते हैं और न ही उत्पन्न होते हैं। भूत, भविष्य, क्षयशील तथा वृद्धिशील वाले व्यक्तभाव संबंधीय आपेक्षिक- लक्षणों सहित ये उत्पत्ति और विनाश धर्मों के अधीन हुए से प्रतीत होते हैं।

यथा देवदत्तो दरिद्राति। कस्मात्? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति। गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं न स्वरूपहानादिति।

अनुमान करें कि देवदत्त (एक पुरुष) दरिद्र हो गया है। कैसे? कारण, उसकी गऊएं मर गयी हैं। उसकी दरिद्रता का कारण केवलमात्र गऊओं की मृत्यु ही है, न कि उसके स्वरूप की हानि।

समः समाधिर्लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रमानतिवृत्तेः। तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणामक्रमनियमात्। तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते।

यहां भी यही विचार लागू होता है (ज)। अलिंग के समीप लिंगमात्र है। यह उसके साथ युक्त है तथा उसी से पृथक् होता है, क्योंकि क्रम अलंघनीय है। इसीप्रकार, छः अविशेष लिंगमात्र में संयुक्त हैं तथा उसी से पृथक् होते हैं, क्योंकि परिणामक्रम नियमित है (झ)। इसीतरह भूत और इन्द्रियां उन अविशेषों में संयुक्त रह कर उनसे पृथक् होते हैं।

सकती है और घट भी सकती है परन्तु 'वस्तु' स्वयं समभाव में ही रहती है। (छ) संयोग द्वारा 'पुरुष' के अर्थ को वेदान्त-दर्शन में जगत्कर्त्ता ईश्वर का कारण कहा गया है। इसलिये उस सिद्धातानुसार (सक्रिय) ईश्वर को कल्पित तथा अनित्य भी कहा जाता है, परन्तु साम्प्रदायिक द्वैतवाद इस लिंगमात्र गुणपर्व के पार नहीं जा सकता। उनके लिये यही अन्तिमसीमा है।

(ज) यह दृष्टान्त अलिंग ('प्रधान') नामक 'वस्तु' की नित्य परिपूर्णता को सूचित करता है। केवलमात्र इसके धर्म, लक्षण और अवस्था ही परिणाम के अधीन होते हैं (यो. सू. ३।१३)। एक बत्ती से हज़ारों बत्तियां जलाई जा सकती हैं, परन्तु आदि बत्ती की ज्वालाशक्ति कम नहीं होती। (पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते इति श्रुतेः) पूर्ण में से पूर्ण निकाल लेने के पश्चात् शेष भी पूर्ण ही रह जाता है।

(झ) "परिणाम क्रम नियमित है"— यह कथन यह सूचित करता है कि परिणाम अनिवार्य है।

तथाचोक्तं— "पुरस्तात् न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्ति" इति, विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः। तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते ॥ १९ ॥

तदनुसार यह भी कहा गया है कि विशेषों के आगे और कोई भी दूसरा (भिन्न) भौतिक तत्त्व नहीं है। अतः विशेषों का और कोई भी दूसरा भौतिक परिणाम नहीं है। इन (विशेषों) के धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणाम की व्याख्या आगे (तीसरे अध्याय के १३ वें सूत्र में) की जायेगी।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

मूलार्थ— द्रष्टा साक्षात् दृशिः है, शुद्ध होने पर भी यह ज्ञान (बुद्धि-वृत्ति) का प्रतिनिधि बनता है— २०.

व्याख्यातं दृश्यम्। अथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते— द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः

दृश्य की व्याख्या हो चुकी है। अब द्रष्टा के स्वरूप निर्धारण के उद्देश्य से यह सूत्र आरंभ होता है— द्रष्टा साक्षात् दृशिः है, शुद्ध होने पर भी यह ज्ञान (बुद्धि-वृत्ति) का प्रतिनिधि बनता है। "साक्षात् दृशिः" शब्द 'दृक्' की शक्ति को सूचित करता है। अर्थात् उपाधि से रहित— यही इसका अर्थ है। 'पुरुष' बुद्धि का प्रतिबिंबित ज्ञाता है। न

उदाहरणार्थ :— जल की ठोस, तरल और गैस रूप तीन अवस्थायें हैं। यदि इसे कठिनावस्था से गैसाकार में जाना पड़े तो अवश्य ही इसे शीघ्रातिशीघ्र अथवा धीरे धीरे तरलावस्था से गुज़रना ही पड़ेगा। यही नियमित क्रम है। इसीप्रकार, लयकाल में इस सृष्टि को भी उन्हीं नियमित क्रमिक पदों से जाना होगा जिनसे यह सृष्टिक्रम में आई है। दूसरे शब्दों में, समाधि-प्रज्ञा को अवश्य ही स्थूलालंबन से आरंभ हो कर अहंग्राह्य प्रज्ञा से अर्थात् यथाक्रम स्थूल, सूक्ष्म, करणग्राह्य तथा अहंग्राह्य चित्त-समापत्ति से जाना होगा। यही ? हां का अभिप्राय है।

तथाकथित ब्रह्मवादी अपने अपने काल्पनिक सिद्धान्तों के नशे से उत्तेजित हो कर कठोरभाव से ईश्वर की मूर्तियों का तिरस्कार कर सकते हैं, परन्तु यह शोक की बात है कि ये लोग उस उद्देश्य को समझने की बुद्धि ही नहीं रखते जिसे हमारे महर्षियों ने मूर्ति-पूजन के स्थापनकाल में अपने सामने रखा था। निर्गुण परमेश्वर विषयक धारणा आरंभकारियों के ध्यान में लाने के लिये इस प्रकार की उपासना बिना कोई भी दूसरा पक्षान्तर न रहने के कारण ही हमारे महर्षियों ने मूर्ति-पूजन की व्यवस्था दी है।

प्रतिसंवेदी, स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति ।

यह बुद्धि के सदृश और न ही अत्यन्त असदृश है ।

न तावत्सरूपः । कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिणामिनी हि बुद्धिः, तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिश्च ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति । सदा ज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मात्? न हि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्यादगृहीता गृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वं, ततश्चापरिणामित्वमिति ।

वह (‘ पुरुष ’) सदृश नहीं है । क्यों? चेतन और अचेतन क्षेत्र के स्वरूप वाली होने के कारण बुद्धि परिणामी है । पुनः गायआदि और घटादि— इसके (बुद्धिके) ये चेतन और अचेतन क्षेत्र इसके परिणामी भाव को दिखाते हैं । दूसरी ओर, चेतन क्षेत्र का भाव सदा ही ‘ पुरुष ’ के अपरिणामी स्वरूप को सिद्ध करता है । कैसे? कारण, बुद्धि निःसन्देह कभी भी न ग्रहण करने वाली नहीं होती तथा ‘ पुरुष ’ का क्षेत्र कभी भी ग्रहण करने वाला नहीं होता । अतः ‘ पुरुष ’ के संबंध में चेतन क्षेत्र का भाव सदा सिद्ध होता है और इससे अपरिणामी स्वरूप भी ।

किंच? परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति । तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानां नूपद्रष्टा पुरुष इत्यतो न सरूपः ।

और क्या? संसर्ग से कर्म करने के कारण बुद्धि ‘ दूसरे ’ (अर्थात् ‘ पुरुष ’) का अर्थ रखने वाली है । ‘ पुरुष ’ का अपना ही अर्थ है । इसीप्रकार, सब का व्यवस्थापक कारण होने से बुद्धि तीन गुणों वाली है और तीन गुणवाली होने से यह अचेतन है । दूसरी ओर, ‘ पुरुष ’ गुणों का उपद्रष्टा है । इसलिये वह (बुद्धि के) सदृश नहीं है ।

अस्तु तर्हि विरूप इति । नात्यन्तं विरूपः । कस्मात्? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः । यतः प्रत्ययं वौद्धमनुवेश्यति तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते । तथाचोक्तम्— “ अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा

तब उसे (‘ पुरुष ’ को) असदृश होने दो । नहीं, वह अत्यन्त असदृश नहीं है । क्यो? कारण, शुद्ध होने पर भी वह ज्ञान (बुद्धि-वृत्ति) का प्रतिनिधि बनता है । ज्ञान जब बुद्धि में प्रवेश करता है, तब ‘ पुरुष ’ सहायक रूप में उसे देखता हुआ उस (ज्ञान) का स्वभाववाला न होने पर भी उसी स्वरूप वाला सा प्रतीत होता है । इसप्रकार यह भी कहा गया है:— “ भोक्ता की शक्ति अपरिणामी तथा अचल है; पुनः परिणामी विषयों के संबंध से वह (शक्ति) इस (परि-

च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यऽविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते " ॥ २० ॥

णामी) वृत्ति के पीछे इस प्रकार चलती है जैसे कि वह इसी (वृत्ति) में परिणत हो गयी हो। इसके अतिरिक्त यह (भोक्ता की शक्ति) ' चैतन्य ' की वृत्ति कही जाती है और वास्तव में यह बुद्धि-वृत्ति से निर्लिप्त परन्तु केवलमात्र उस बुद्धि-वृत्ति का अनुकरण करने वाली है जिसने " चैतन्य " के प्रिय रूप को प्राप्त किया है "।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

मूलार्थ— उस (' पुरुष ') का अर्थ ही दृश्य का आत्मा (स्वरूप) है-२१.

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा। दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा भवति, स्वरूपं भवतीत्यर्थः। तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तो न तु विनश्यति ॥ २१ ॥

दृशिः के बाह्य रूप ' पुरुष ' के लिये दृश्य को कर्मक्षेत्र के तत्त्व को धारण करना पड़ता है। उस (' पुरुष ') का अर्थ ही दृश्य का आत्मा अर्थात् स्वरूप है, यही अभिप्राय है। प्रतिबिंबित भाव में ' दूसरे ' के रूप से प्राप्त किया हुआ इस (दृश्य) का स्वरूप ' पुरुष ' द्वारा उस समय नहीं देखा जाता जब भोग और अपवर्ग रूप अर्थपूर्ण हो जाता है। अतः अपने स्वरूप को खोने से यह (दृश्य) अन्त को प्राप्त होता है, परन्तु यह पूर्णतया नष्ट नहीं होता (क)।

टि. सू. २० यहां भाष्यकार बुद्धि का अनिर्वचनीय स्वरूप वर्णन करते हैं, कारण बाह्य और अध्यात्म रूप बुद्धि की दो कोटियां हैं। अध्यात्म कोटि के अर्थ में प्रयुक्त होने से यह " बुद्धि " शब्द शब्दकोष्ठक में ' चैतन्य ' नामक ग्रहीतृ पुरुष अर्थात् महत्तत्त्व को सूचित करता है (इस समय यह ' पुरुष ' बुद्धि के सदृश है— भ. गी. २।४९)। पुनः बाह्यकोटि के अर्थ में प्रयुक्त होने से इसे 'प्रधान' का विकार माना जाता है (इस समय ' पुरुष ' बुद्धि के असदृश है— भ. गी. ७।४)।

टि. सू. २१ (क) वेदान्त-दर्शन अद्वैत सिद्धांत रखता हुआ भी अज्ञान का बहुत्व मानता है। यह बार बार कहा जा चुका है और आगे भी कहा जायेगा कि कर्म को दिखाने वाली इस विद्या का उद्देश्य 'पुरुष' को अविद्या से मुक्त करना है, इसलिये इस विद्या में ' पुरुष ' का बहुत्व स्थापित हुआ है। इसी कारण से भाष्यकार यह स्पष्टतया दिखाते हैं कि अपने स्वरूप को खोने पर भी दृश्य तत्त्व में नष्ट नहीं होता। क्यों नहीं होता— इस का उत्तर अगला सूत्र देगा।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

मूलार्थ— जिसके अर्थ पूर्ण हो चुके हैं उसके लिये यद्यपि यह (दृश्य) नष्ट हो जाता है, तथापि दूसरों में अपनी सामान्यता रखने के कारण यह नष्ट नहीं होता— २२.

कस्मात्? कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान्पुरुषान्प्रति न कृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं

क्यों? कारण, जिसके अर्थ पूर्ण हो चुके हैं उसके लिये यद्यपि यह (दृश्य) नष्ट हो जाता है तथापि दूसरों में अपनी सामान्यता रखने के कारण यह नष्ट नहीं होता। अर्थ पूर्ण हुए एक 'पुरुष' के लिये यद्यपि दृश्य नष्ट अर्थात् नाश को प्राप्त होता है तथापि दूसरे 'पुरुषों' के प्रति इसकी सामान्यता होने के कारण यह नष्ट नहीं होता। कुशल 'पुरुष' (जो योग में पूर्णता प्राप्त कर चुका है) के लिये यद्यपि यह नष्ट हो जाता है, परन्तु फिर भी अकुशल 'पुरुषों' के प्रति इसने अपना कर्त्तव्य (अर्थ) पूर्ण नहीं किया है। अतः उनके 'दृशिः' (क) के लिये यह (दृश्य) कर्मक्षेत्र के भाव को

टि. सू. २२ (क) यहां भाष्यकार 'दृशिः' शब्द को एकवचन में और 'पुरुष' शब्द को बहुवचन में रखते हैं, अतः यह स्पष्ट है कि "दृशिः" एक ही है परन्तु इसके प्रतिबिंब बहु हैं। उदाहरणार्थ— मछली का जाल धूप में बिछा हुआ है। अपने अपने छेदों के परिमाण का अभिमान रखते हुए धूप के आंशिक रूप अपने को बड़ा-छोटा, ऊंचा-नीचा, मोटा-पतला इत्यादि मानते हैं। इसलिये वे अपने व्यक्तिगत क्षेत्रों को बढ़ाने में ही सदा व्यस्त रहते हैं, परन्तु जब विशेष प्रयत्न द्वारा उनमें से कोई एक छिद्र बन्द हो जाये अथवा काटा जाये तो उस छेद से संबंध रखने वाला आंशिक रूप सर्वव्यापी धूप के साथ अपनी एकता को देखता है, क्यों कि उसकी चारदीवारी नष्ट होने पर उस छिद्र के साथ उसका आत्माभिमान भी छूट जाता है। इस अवस्था में व्यापक धूप यह प्रत्यक्षानुभव करती है कि वह सूर्य के बिना और कोई वस्तु नहीं है।

इसी प्रकार, सगुण ब्रह्म अर्थात् चितिः सूर्य है, 'चैतन्य' अर्थात् एकजीव नामक कूटस्थ 'पुरुष' व्यापक धूप है और धूप को पृथक् पृथक् दिखाने वाले छिद्र चित्त नामक प्रजा अर्थात् जीव हैं। यह चित्त बहु है तथा निम्नात्मा अर्थात् 'निर्माण चित्तानि' शब्दों में कहा गया है। इन सब शब्दों को शब्दकोष्ठक से निर्धारण करना चाहिये। हमें यहां ध्यान में रखना है कि शरीर व मन की सीमा में सीमित 'पुरुष' को उस सीमा से मुक्त करना ही इस विद्या का उद्देश्य है। इसके पश्चात् आने वाली अवस्था को वेदान्त-दर्शन वर्णन करेगा। तदनुसार सांख्यतत्त्वकौमुदी 'पुरुष' के बहुत्व को इस प्रकार वर्णन करती है:- "जन्म, मरण और करणों के आपेक्षिक बन्धन हेतु और पृथक् पृथक् जागृति के कारण 'पुरुष' का बहुत्व सिद्ध होता है"। दूसरी ओर वेदान्त जीव को अजन्मा, अमर, शुद्ध, नित्य, मुक्त, विभु इत्यादि रूप में वर्णन करता है; कारण, इस विद्या की पूर्ण प्राप्ति ही वेदान्त-दर्शन की नींव है।

लभत एवं पररूपेणात्मरूपमिति । अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति । तथा चोक्तम् " धर्मिणामनादिसंयोगा-द्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः " इति ॥ २२ ॥

धारण करता है। इसीकारण, यह 'दूसरे' के रूप से अपना रूप लाभ करता है । अतः 'दृक्' की शक्ति और 'दर्शन' की शक्ति—इन दोनों की नित्यता के कारण अनादि संयोग वर्णित हुआ है। इसलिये यह भी कहा गया है:— " धर्मियों ('पुरुष' और 'गुणों') के अनादि संयोग से उनके प्रत्येक धर्म का भी अनादि संयोग है " ।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

मूलार्थ— अपनी तथा अपने स्वामी की शक्तियों के स्वरूप को अंगीकार करने का कारण संयोग है-२३.

संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः । पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्त-स्तस्मात्संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः । या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः दर्शनकार्यावसानः संयोग इति । दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम् । दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम् । नात्र दर्शनं मोक्ष-कारणमदर्शनाभावादेव बन्धाभावः स मोक्ष इति ।

संयोग का स्वरूप वर्णन करने के उद्देश्य से यह सूत्र आरंभ होता है । अपनी तथा अपने स्वामी की शक्तियों के स्वरूप को अंगीकार करने का कारण संयोग है । (बहिर्मुखी) दर्शनकर्म के उद्देश्य से ही स्वामी 'पुरुष' अपने दृश्य के साथ संयुक्त होता है, उस संयोग से दृश्य का जो अंगीकार होता है, वह भोग है । पुनः जो द्रष्टा के स्वरूप का अंगीकार होता है वह अपवर्ग है । दूसरे शब्दों में (निरोधमुखी) दर्शनकर्म से संयोग का अन्त होता है। इसलिये दर्शन वियोग का कारण कहा जाता है । दर्शन अदर्शन का विरोधी है। अतः (व्युत्थान संस्कार रूप) अदर्शन संयोग का कारण कहा गया है। यहां दर्शन मोक्ष का कारण नहीं है, अदर्शन के अभाव से बन्धन का जो अभाव है, वही मोक्ष है (क) । (निरोधमुखी) दर्शन के

टि. सू. २३ (क) यहां भाष्यकार कहते हैं कि अदर्शन (अविद्या) का अभाव ही अपवर्ग का साक्षात् कारण है, परन्तु दर्शन नहीं। इस कथन का आन्तरिक अभिप्राय क्या है ? दार्शनिक ग्रन्थों के केवल शास्त्रीय-ज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति की कल्पना से हमें सावधान करना ही इसका उद्देश्य है । पुस्तकों का ज्ञान स्वयं

दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं ज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम्।

उदय होने पर बन्धन-कारण रूप अदर्शन का नाश होता है, अतः दर्शन अर्थात् ज्ञान (चितिः) कैवल्य का कारण कहा गया है।

किंचेदमदर्शनं नाम ? किं गुणानामधिकारः ? आहोस्विद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः स्वस्मिन्दृश्ये विद्यमाने यो दर्शनाभावः ?

अब यह अदर्शन वास्तव में क्या है ? क्या यह गुणों का कार्य है ? अथवा क्या यह दृशिः का बाह्य रूप वाला तथा विषयों को दिखाये जाने वाला प्रधानचित्त (एकजीव) की अनुत्पत्ति अर्थात् (स्वामी का) अपना दृश्य विद्यमान रहने पर भी ('प्रधान' और 'पुरुष' की कैवल्य स्थिति में) दर्शन का अभाव है ?

किमर्थवत्व गुणानाम् ? अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् ?

क्या यह गुणों का संकल्प (अर्थवत्व) है ? अथवा क्या यह अपने चित्त के साथ अदृश्य स्थिति वाली तथा अपने चित्त की उत्पत्ति का बीज वाली अविद्या है ?

किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः ?

क्या यह (गतिशून्य) स्थिति-संस्कार के क्षय होने पर गति-संस्कार की अभिव्यक्ति है ?

यत्रेदमुक्तं— "प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्। तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्।" उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा। कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव समानश्चर्चः।

यह वहां कहा गया है:— "'प्रधान' स्थिति (गतिशून्य अवस्था) में ही रहता हुआ विकार (परिणाम) उत्पन्न न करने से मुख्य कर्ता नहीं बनता। इसीप्रकार, केवल गति में ही रहता हुआ यह ('प्रधान') मुख्य नहीं हो सकता, क्योंकि विकार (परिणाम) नित्य हो जाता है"। पुनः इसका दोनों ओर (गति व स्थिति) का कर्म ही "मुख्य कारण" ('प्रधान') के व्यवहार को लाभ करता है, परन्तु और किसी प्रकार से नहीं। इसी विचार को पूर्वोक्त दूसरे वैकल्पिक कारणों (ख) में भी प्रयोग करना है।

अविद्या को नष्ट नहीं करता। कारण, चित्त की चंचलता, शरीर की अस्थिरता, चपलश्वास, इन्द्रिय-परायणता, स्वप्न, निद्रा, मूढ़ कल्पना आदि अविद्या से उत्पन्न होते हैं। जिस मनुष्य में यह नहीं पाये जाते और जिसने समाधि-प्रज्ञा के व्यक्त (शरीरसंबंधीय) तथा अव्यक्त (चित्तसंबंधीय) सद्गुणों को प्राप्त किया है, वही मुक्त माना जाता है। दूसरे शब्दों में वह शरीर और मन की आवश्यकीय पूर्णता से युक्त होता है।

(ख) ये सब वैकल्पिक सिद्धांत गति और स्थिति के संबंध में एक ही भावधारा को प्रकट करने के

दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिरिति श्रुतेः । सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति, सर्वकार्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति ।

एक दल का कहना है कि स्वयं दर्शन-शक्ति ही अदर्शन है, क्योंकि श्रुति कहती है कि अपने को प्रकट करना ही 'प्रधान' की जागृति है। अतः, सब अनुभव किये जाने वाले को अनुभव करने में समर्थ 'पुरुष' 'प्रधान' की जागृति के पहिले नहीं देखता और सब कार्यों को करने में समर्थ दृश्य उस समय नहीं देखा जाता।

उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके । तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति । तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनेवादर्शनमवभासते ।

दूसरा दल कहता है कि अदर्शन दोनों का ही धर्म है। इस पक्ष में, दृश्य का अपना आत्मा होने पर भी 'पुरुष' के ज्ञान पर निर्भर करता हुआ यह अदर्शन दृश्य-धर्म का तत्त्व बन जाता है। इसीप्रकार, 'पुरुष' के विपरीत स्वरूप वाला होने पर भी दृश्य के प्रकाशन पर निर्भर करता हुआ यह अदर्शन 'पुरुष-धर्म' के तत्त्व में प्रतीत होता है।

दर्शनं ज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति ।

औरों का कहना है कि दर्शन अर्थात् (बहिर्मुखी) ज्ञान ही अदर्शन है।

इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः । तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम् ॥ २३ ॥

अतः ये शास्त्रगत पक्षान्तर (ग) हैं। यहाँ वैकल्पिक सिद्धांतों का बहुत्व गुणों के साथ सब पुरुषों के संयोग का साधारण विषय है।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

मूलार्थ— अविद्या इसका कारण है-२४.

यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः, तस्य हेतुरविद्या । विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः । विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुष-

'अन्तरस्थ चैतन्य' का अपनी बुद्धि के साथ जो संयोग है, उसका कारण अविद्या है। अभिप्राय यह है कि अविद्या उल्टे ज्ञान का संचित संस्कार है। पुनः उल्टे ज्ञान से युक्त हुई बुद्धि अपने कर्म की अन्तिम सीमा अर्थात् 'पुरुष' के प्रकाशन को प्राप्त नहीं होती;

लिये भिन्न भिन्न मूल ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के कथन हैं। (ग) "शास्त्रगत पक्षान्तर" शब्द, विभिन्न अध्यात्म शास्त्रों द्वारा कथित शिक्षाओं की भिन्न भिन्न प्रणालियाँ हैं।

ख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति साधिकारा पुनरावर्तते सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसानां कार्यनिष्ठां प्राप्नोति। चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्तते।

अतः यह अपने कर्त्तव्यसहित वापिस आती है। इसके विपरीत, जब यह 'पुरुष' के प्रकाशन से समाप्त की हुई कर्म की अन्तिम सीमा को प्राप्त होती है, तब अपने कर्त्तव्य और अदर्शन से मुक्त हुई यह बन्धन-कारण के अभाव हेतु वापिस नहीं आती।

अत्र कश्चित्षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति। मुग्धया भार्ययाभिधीयते षण्डकः — आर्यपुत्र! अपत्यवती मे भगिनी, किमर्थं नाम नाहमिति। स तामाह मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति।

नपुंसक पति की कहानी से कोई इस विषय का स्पष्ट करता है। नपुंसक अपनी मूढ़ पत्नी द्वारा इस प्रकार संबोधित होता है—"हे आर्य पुत्र! मेरी बहिन पुत्रवती है, परन्तु मैं क्यों नहीं हूं?" वह उसे इस प्रकार उत्तर देता है-- "मैं मृत्यु के पश्चात् तेरे में पुत्र उत्पादन करूंगा"।

तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति, विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा?

तत्राचार्यदेशीयो वक्ति, "ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षोऽदर्शनकारणाभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः। तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्तते"।

इसी प्रकार यह विद्यमान (बहिर्मुखी) ज्ञान जब चित्त का अवरोध (ठहराव) ही नहीं ला सकता, तब इसको विनष्ट करने में क्या आशा हो सकती है? इस विषय पर एक अपूर्ण आचार्य कहते हैं— "केवल बुद्धि की निवृत्ति क्या मोक्ष नहीं है? क्योंकि अदर्शन नामक इस कारण के अभाव से ही बुद्धि की निवृत्ति होती है। पुनः, बन्धनकारण रूप यह अदर्शन दर्शन से समाप्त हो जाता है।

तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः। किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः? ॥ २४ ॥

वहां (उक्त प्रतिवाद का खंडन करते हुए हम कह सकते हैं कि) केवल चित्तनिवृत्ति ही मोक्ष है। वह (अपूर्ण आचार्य) एक अयोग्य स्थल में मानसिक भ्रम को क्यों प्राप्त होता है (क)?

टि. सू. २४. (क) इससे यह स्पष्ट है कि प्रथमतः चित्त को अपने कर्म से रोक कर तत्पश्चात् इसे नष्ट किया जाता है। अर्थ यह है कि चित्त के प्रकट होने का कारण लिंगमात्र गुणपर्व है। इसीप्रकार, लयकाल में भी यह (चित्त) प्रथमतः व्युत्थान संस्कार को छोड़कर तदनन्तर निरोधमुखी संस्कारसहित क्रमिक पदों से बुद्धि (एकजीव) नामक लिंगमात्र-गुणपर्व में पहुंचता है। यही चित्त-निवृत्ति है। पुनः अलिंग-गुणपर्व अर्थात् असंप्रज्ञात-समाधि में बुद्धि की निवृत्ति होती है। कईयों का यह विचार है कि

तद्भावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

मूलार्थ— इसके अभाव से संयोग का अभाव आता है, यही "दृशिः" का कैवल्यरूप 'हान' (मोक्ष) है–२५.

हेयं दुःखं, हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्। अतः परं हानं वक्तव्यम्— तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः

'हेय' (त्यागने योग्य) दुःख और संयोग के नाम से 'हेय' का कारण कर्म-क्षेत्र सहित वर्णित हो चुके हैं। अब परम 'हान' का वर्णन होना है:— इसके अभाव से संयोग का अभाव आता है, यही "दृशिः" का कैवल्य रूप 'हान' (मोक्ष) है। उस अदर्शन के अभाव से बुद्धि और 'पुरुष' के संयोग का अभाव अर्थात् बन्धन की पूर्ण निवृत्ति आती है, यही अभिप्राय है।

एतद्धानं तद्दृशेः कैवल्यं, पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः ॥ २५ ॥

यही 'हान' है जो 'पुरुष' का अमिश्रित भाव रूप 'दृशिः' का कैवल्य अर्थात् गुणों के साथ 'पुरुष' का फिर से संयोग न होने की स्थिति है, यही अर्थ है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

मूलार्थ— अविप्लवा (अचंचल) विवेकख्याति 'हान' (मोक्ष) का उपाय है–२६.

दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं, तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम्। अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति?— विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः।

दुःख का कारण निवृत्त होने पर दुःख का अभाव होता है और इसी का नाम 'हान' है। इसलिये यह कहा गया है कि उस काल में 'पुरुष' अपने स्वरूप में स्थित होता है। अब 'हान' प्राप्ति के क्या उपाय हैं? अविप्लवा विवेकख्याति 'हान' का उपाय है। सत्त्व

केवलमात्र दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा तत्त्व को जानना ही ज्ञान है। इस शंका की निवृत्ति के लिये भाष्यकार कहते हैं कि चित्तवृत्ति का बहिर्मुखी संस्कार नामक यह विद्यमान ज्ञान जब चित्त को अपने कर्म से भी नहीं छुड़ा सकता तब यह निश्चित है कि यह ज्ञान चित्त की निवृत्ति अर्थात् 'पुरुष' के प्रकाशन रूप मोक्ष की ओर कभी भी नहीं ले जा सकता। पुनः कर्मबन्धन से 'पुरुष' की मुक्ति ही यह चित्तनिवृत्ति है। यही इस विद्या का विषय है, और निर्वाण मोक्ष के रूप में बुद्धि की निवृत्ति वेदान्त दर्शन का मूल सिद्धान्त है।

सात्त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते। यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं बन्ध्यप्रसवं संपद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥ २६ ॥

(बुद्धि) और ' पुरुष ' के मध्य भेद को दिखाना ही विवेक-ख्याति है। मिथ्या (उल्टा) ज्ञान से मुक्त न होने तक यह अवश्य चंचल रहती है। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीज की अवस्था को प्राप्त होता है तथा उत्पन्न करने में बांझ बन-जाता है, तब उसी सत्त्व (बुद्धि) के विवेक-ज्ञान का प्रवाह निर्मल हो जाता है जिसकी क्लेश रूप मल पूर्णतया धुलचुकी है तथा जो अपनी परम ज्योति व वश करने वाले परम मनोबल में स्थित है । यह विवेकख्याति अविप्लवा (अचंचला) होने पर ' हान ' का उपाय है। इससे मिथ्याज्ञान को दग्धबीज की स्थिति प्राप्त होती है अर्थात् यह अनुपजाऊ बन जाता है। यही मोक्ष का मार्ग अर्थात् ' हान ' का उपाय है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

मूलार्थ— उसकी अन्तिम भूमि वाली प्रज्ञादृष्टि सप्तधा (सात प्रकार की) है–२७.

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। तस्येति प्रत्युदितख्यातेः-प्रत्याम्नायः सप्तधेति। अशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तधैव सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति।

" उसकी " अर्थात् ' योगी की ' जिसमें विवेकख्याति उदय हुई है– समाधिप्रज्ञा सात प्रकार की है। अशुद्धियों के आवरण रूप मल के अभाव से चित्त का दूसरा ज्ञान (बहिर्मुखी वृत्ति) न उत्पन्न होने पर विवेक-प्राप्त योगी की प्रज्ञा-दृष्टि केवल सप्तधा अर्थात् सात प्रकार की होती है।

तद्यथा-परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति। क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति। साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्। भावितो

ये निम्नलिखित हैं— ' हेय ' पूर्णतया जाना जा चुका है, इसके बारे में और जानने के लिये बाकी कुछ भी नहीं रहा। ' हेय ' का कारण नष्ट हो चुका है, नाश करने के लिये इसका बाकी कुछ भी नहीं रहा। निरोध-समाधि द्वारा ' हान ' देखा जा चुका है। विवेकख्याति रूप ' हान ' का उपाय खोला गया है। अतः

विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इत्येषा चतुष्टयी कार्यविमुक्तिः प्रज्ञायाः ।

चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी चरिताधिकारा बुद्धिः, गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति । न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति । एतस्यामवस्थायां गुणसंबन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषः ।

इत्येतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते । प्रतिप्रसवेऽपि च चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति ॥२७॥

प्रज्ञादृष्टि की यह चार प्रकार की कार्य-विमुक्ति (बाह्य मुक्ति) है (क) ।

चित्त-विमुक्ति (कारण-विमुक्ति) तीन प्रकार की है। पर्वत-शिखर के किनारे से गिरे हुए पत्थर की भाँति ये गुण कोई आश्रय न पा कर और अपने कारण में प्रवेश करने के लिये प्रस्तुत हो कर चित्त सहित लय हो जाते हैं। पूर्णतया लय-प्राप्त इन गुणों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती; कारण, प्रयोजन का अभाव है। इस अवस्था में ' पुरुष ' गुणों के संबंध से पार चला जाता है और अपने स्वरूप की एकमात्र ज्योति बन कर शुद्ध तथा निर्लिप्त हो जाता है (ख) ।

अतः अन्तिम भूमि वाली (ग) इस सात प्रकार की प्रज्ञादृष्टि को प्रतिबिंबित रूप में देख कर ' पुरुष ' कुशल कहलाता है। इसके अतिरिक्त चित्त (अहंकार) के अभाव होने पर भी ' पुरुष ' वास्तव में मुक्त और कुशल रहता है, कारण उसकी स्थिति गुणों के परे है ।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

मूलार्थ—योगाङ्गों के क्रमिक संपादन से अशुद्धि के नाश होने पर ज्ञानज्योति विवेकख्याति तक पहुँचती है-२८.

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति । न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते— योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि,

यह स्थापित हो चुका है कि विवेकख्याति ' हान ' (मोक्ष) का उपाय है। पुनः साधन-क्रम बिना सफलता आ ही नहीं सकती। इसलिये यह सूत्र आरंभ होता है— ' योगाङ्गों के क्रमिक संपादन से अशुद्धि के नाश होने पर

टि. सू. २७ (क) कार्य-विमुक्ति इस विद्या का विषय है । (ख) वेदान्त-दर्शन चित्त-विमुक्ति (कारण-विमुक्ति) को दिखायेगा । (ग) " अन्तिम भूमि वाली " शब्द यह सूचित करता है कि इस प्रज्ञा-दृष्टि की परिसमाप्ति है, इसलिये परवैराग्य द्वारा इस सुख को भी त्यागना चाहिये (यो. सू. १।१६, ३।१८) ।

तेषामनुष्ठानात्पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशस्तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः। यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते। यथा यथा च क्षीयते तथा तथा च क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः। आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः।

ज्ञानज्योति विवेकख्याति तक पहुँचती है। योगाङ्ग आठ हैं और उनका वर्णन हो रहा है। उनके क्रमिक संपादन से अशुद्धि के रूप में पांच गाठों वाले उल्टे ज्ञान (विपर्यय) का क्षय अर्थात् नाश होता है। इसके नाश होने पर सम्यग्ज्ञान उदय होता है। जैसे जैसे साधनों का संपादन किया जाता है, वैसे वैसे अशुद्धि दुर्बल होती जाती है। और जैसे जैसे यह (अशुद्धि) नष्ट होती है, वैसे वैसे ही क्षय के क्रमानुसार ज्ञानज्योति बढ़ती है। ज्ञान की यह वृद्धि निःसन्देह विवेकख्याति तक अर्थात् 'पुरुष' और गुणों के स्वरूप के प्रत्यक्षानुभव तक अपनी चरमसीमा में पहुँचती है।

योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम्, यथा परशुश्छेद्यस्य; विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य नान्यथा कारणम्।

योगाङ्गों का क्रमिक संपादन अशुद्धि के वियोग का कारण होता है जैसे काटी जाने वाली वस्तु के लिये कुल्हाड़ी है। पुनः यह विवेकख्याति की प्राप्ति का भी कारण होता है जैसे धर्म सुख का कारण है (क), यह और किसी प्रकार कारण नहीं बनता।

कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति। नवैवेत्याह— तद्यथा 'उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः। वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥' इति।

शास्त्रों में कितने कारण हैं? वे केवल नौ कहे जाते हैं और इस प्रकार हैं :— उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय (अनुमान-ज्ञान), प्राप्ति, वियोग, अन्यत्व और धृति (आधार)— ये नौ प्रकार के कारण शास्त्रों द्वारा विहित किये गये हैं।

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति ज्ञानस्य।

(१) वहां 'चैतन्य' की उत्पत्ति का कारण मन है।

टि. सू. २८ (क) यह पहिले भी कहा जा चुका है कि बिना शास्त्रों की सहायता के कोई भी मनुष्य सन्मार्ग का निर्णय नहीं कर सकता। इसलिये भाष्यकार सूचित करते हैं कि शास्त्रविधि के पूर्णतया आज्ञाधीन रहना ही अनन्त सुख-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।

(१) अपने यथार्थ स्वरूप में 'चैतन्य' निर्लिप्त है, परन्तु मन के संबंध से यह प्रतिबिंबित रूप में जन्म-मृत्यु आदि के अधीन होता है। इसलिये जागतिक दृष्टि से मन को 'चैतन्य' की उत्पत्ति का कारण कहा गया है।

स्थितिकारणं-- मनसः पुरुषार्थता शरीरस्येवाहार इति ।

(२) 'पुरुष' के अर्थ पूर्ण करना मन की स्थिति का कारण है जैसे आहार शरीर के लिये है ।

अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्याऽलोकस्तथा रूपज्ञानम् ।

(३) रूप की अभिव्यक्ति का कारण जैसे आलोक है वैसे ही आकार के लिये 'चैतन्य' है।

विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्, यथाग्निः पाक्यस्य ।

(४) भिन्न भिन्न विषयों में मन का बदलना उसी प्रकार विकार का कारण है जैसे अग्नि पकायी जाने वाली वस्तु का कारण है ।

प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य ।

(५) जैसे धुएँ के ज्ञान से अग्नि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार प्रत्यय कारण है ।

प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः ।

(६) प्राप्ति का कारण ऐसे है जैसे योगाङ्गों का क्रमिक संपादन विवेकख्याति का ।

वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः ।

(७) वियोग का कारण यथा— वह (योगाङ्गों का संपादन) अशुद्धि का है ।

अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः । एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे, द्वेषो

(८) अन्यत्व कारण यथा— सोने के लिये सुनार है । इसीप्रकार एक ही स्त्री के ज्ञानसंबंध में अविद्या मूढ़ कल्पना का कारण बनती है, द्वेष

---

(२) आहार की मात्रा व गुणानुसार ही शरीर बढ़ता अथवा घटता है, यह आहार बिना ठहर नहीं सकता । इसीप्रकार, भोग व अपवर्ग के रूप में 'पुरुष' का अर्थ मन की स्थिति का कारण होता है ।

(३) पदार्थ को प्रकाश करना तथा उसी के आकार को धारण करना आलोक का कार्य है । इसीप्रकार 'चैतन्य' शरीर को प्रकाशित करता है तथा शरीर के परिमाणानुसार अपने परिमाण का अभिमान ग्रहण करता है ।

(४) अग्नि द्वारा पकाये जाने पर गेहूं—मांड, केक, बिस्कुट, रोटी आदि में विकार को प्राप्त होता है । पुनः इनको बनाने की प्रणाली न जानने वाले मनुष्य के लिये उस गेहूं के वास्तविक स्वरूप को निर्धारण करना बहुत ही कठिन होता है जिससे ये विकार आये हैं । इसीप्रकार, मन के विकारों से 'वस्तु' (ब्रह्म) का यथार्थ स्वरूप निर्धारण करना हमारे लिये भी अति कठिन है ।

(५) जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही जगत्कार्य से नित्यसत्ता के अस्तित्व पर हमें पूर्ण विश्वास होता है । संक्षेपतः कोई भी मनुष्य अपने अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता । उसका अपना अस्तित्व ही नित्य सत्ता का यथेष्ट प्रमाण है ।

(६।७) योग का क्रमिक अभ्यास मन का मल दूर करता है तथा नित्य सत्ता को प्रकाश करता है । इसलिये यह दो प्रकार के कारण के रूप में कार्य करता है ।

(८) सुनार द्वारा स्वर्ण कई रूपों में परिणत होने पर भी अपने यथार्थ स्वरूप में वैसा ही रहता है ।

नि । यथाक्रममेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः ॥ २९ ॥

धारणा, ध्यान व समाधि,— ये आठ योग के अंग हैं। इनका स्वरूप तथा क्रमिक संपादन हम यथाक्रम वर्णन करेंगे।

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

मूलार्थ— वहां अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह,— ये यम हैं— ३०.

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तम्— स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।

अहिंसा सर्वदा तथा सर्वप्रकार से सब भूत प्राणियों के प्रति पीड़ा देने का अभाव है। आगे आने वाले यम और नियम इसके मूल हैं। इसकी सिद्धि ही उनका मूल उद्देश्य है, इसको प्राप्त करने के लिये ही उनका संपादन किया जाता है, इसी को निर्दोष बनाने के लिये ही उन्हें अपनाया जाता है। इसलिये यह भी कहा गया है— वही निःसन्देह ब्राह्मण (क) है जो जैसे जैसे बहु व्रतों का संपादन करने की इच्छा करता है, वैसे वैसे ही प्रमाद द्वारा उत्पन्न हिंसा के उद्गम-स्थानों से दूर हटता है और इससे केवल अहिंसा को ही निर्दोष बनाता है।

टि. सू. ३० (क) यहां "ब्राह्मण" शब्द साधारण व्रत के योगी को सूचित करता है। दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र की टिप्पणी में सूत्र रचना के सौन्दर्य के विशेषज्ञान-लाभार्थ कुछ सूचनायें दी गयी हैं। यहां भी हम वही नियम देखते हैं। इस विद्या के मुख्य विषय को ग्रन्थकार प्रथम अध्याय में रखते हैं और दूसरे अध्याय में इसके साधनों का वर्णन करते हैं। इसी प्रकार, प्राप्तव्य विषय को सूत्रकार इस सूत्र के प्रथम स्थान में रखते हैं और बाकी सब इसकी प्राप्ति के लिये क्रमिक पद बनते हैं। पूर्ण सफलता प्राप्ति के अर्थ इस प्रणाली को भाष्यकार सुन्दरतापूर्वक स्पष्ट करते हैं। साधारण व्रत में संपादन योग्य अवश्य कर्त्तव्य रूप नियमों से वे आरम्भ करते हैं। वे नियम इस प्रकार हैं— ईश्वर-प्राणिधान (ईश्वर-प्राप्ति की तीव्र इच्छा) स्वभावतः मनुष्य को स्वाध्याय की ओर ले जाता है, स्वाध्याय से वर्णाश्रम-विभागानुसार किये जाने वाले कर्म रूप तप आते हैं। इससे संतोष और फिर सन्तोष से मन की शुद्धि आती है। मन की यह शुद्धि धनसंचय की इच्छा को नष्ट करती है, तत्पश्चात् स्त्रीसंभोग की इच्छा का भी अभाव हो जाता है। इस भोगेच्छा से जो मुक्त है वह शास्त्रविरुद्ध नियमों (स्तेय) से दूसरों का धन कभी भी नहीं लेता। इस स्तेय स्वभाव का अभाव होने पर सत्य अवश्य ही आता है। अन्त में, अहिंसा उसमें दृढ़ स्थिति लाभ करती है। अहिंसा की सिद्धि के लिये यही एकमात्र क्रमिक प्रणाली है।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदित्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।

सत्य यथार्थ वाणी और मन में अर्थात् जो देखा गया है, अनुमान किया गया है तथा सुना गया है— ठीक उसी के अनुसार रहता है। दूसरे को अपना ज्ञान देने के लिये ही वाणी प्रयुक्त होती है। यदि यह छलपूर्ण, भ्रांतियुक्त और प्रत्यक्ष-ज्ञान से शून्य नहीं है तथा यदि यह सब भूतप्राणियों के उपकारार्थ प्रयुक्त होती है परन्तु उनके अनिष्ट के लिये नहीं, (तब यह वाणी सत्य होती है)।

परन्तु यह (वाणी) इसीप्रकार प्रयुक्त होती हुई भी यदि भूतों की पीड़ा का कारण बने तो यह सत्य नहीं हो सकती, यह अवश्य करके पाप ही है। पुण्य के उस झूठे दिखाव से इसके प्रयोग करने वाले को अवश्य ही दुःखपूर्ण नरक में गिरना पड़ता है। अतएव सावधानी से इसे (वाणी को) जांच कर सब भूतों के हितार्थ सत्य बोले (ख)।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।

शास्त्रविधि-विरुद्ध उपाय से दूसरे का द्रव्य ग्रहण करना स्तेय (चोरी) है। ऐसा न करना तथा इसके प्रति इच्छा का भी अभाव होना अस्तेय है।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।

गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम ब्रह्मचर्य है।

एक नास्तिक, वेदविधि को न जानने वाला, स्वेच्छाचारी, लोभी, अशुद्ध अन्तःकरणवाला, कंजूस, लम्पट, चोर तथा मिथ्यावादी कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता। उक्त विधि का यथायोग्य पालन न करने पर अहिंसा अवश्य ही उल्टा मार्ग ग्रहण करती है जैसे कि हम आजकल भारतवर्ष में विशेष करके मारवाड़, गुजरात और काठियावाड़ आदि प्रान्तों में देखते हैं। तुच्छकीटों के प्रति तो वे लोग अहिंसा दिखाते हैं, परन्तु अपने स्वजातीय प्राणियों के गले काटने में रत्तीभर भी संकोच नहीं करते।

(ख) मैं पाठकों से अनुरोध करता हूं कि वे भाष्यकार द्वारा दिये गये 'सत्य' के वर्णन को ध्यानपूर्वक देखें। सत्य के इस तराजू से वे देख सकेंगे कि विभिन्न साम्प्रदायिक गुरू अपने अपने मिथ्या प्रचारों से देश की महान् हानि कर रहे हैं। यह तो भगवान् ही जानते हैं कि उनकी तथा उनके अनुगामियों के लिये कौनसी भविष्य दुर्गति तैय्यार है।

विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शना-
दस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ ३० ॥

विषयों में उपार्जन, रक्षण, हानि, आसक्ति तथा हिंसादि दोष देख कर द्रव्यों को न ग्रहण करना अपरिग्रह (दान न लेना) है। ये यम हैं (ग)।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

मूलार्थ— वे (अहिंसादि) जाति, देश, काल तथा समय द्वारा सीमित न हो कर विश्वव्यापक होती हुई महाव्रत कहलाती है— ३१.

ते तु— जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यवधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति।

ये (अहिंसादि) जाति, देश, काल तथा समय द्वारा सीमित न हो कर विश्वव्यापक होती हुई महाव्रत कहलाती हैं। वहां अहिंसा जाति द्वारा सीमित है यथा —मछुए की हिंसा केवल मछली में ही सीमित है, दूसरे में नहीं। वही अहिंसा देश द्वारा भी सीमाबद्ध है यथा— "मैं तीर्थस्थान में हिंसा नहीं करूंगा"। पुनः वही काल द्वारा भी सीमाबद्ध है— "मैं चतुर्दशी तिथि तथा पुण्य दिवस में किसी प्राणी को नही मारुंगा (क)।"

(ग) इन तथाकथित यतियों के अतुल धन तथा उनके चमकीले ठाठबाट को देख कर आजकल के बहुत से लोग समझते हैं कि ये ही उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लक्षण हैं। यदि यही स्थिति हो तो एक सौदागर और एक तथाकथित महात्मा में क्या भेद है? सौदागर तो अपने पसीने से धन कमाता है परन्तु तथाकथित यति चित्ताकर्षक ढोंग तथा पापपूर्ण उपायों से धन का संग्रह करता है। हमारे भाष्यकार दूसरे से धन न लेने की अति प्रशंसा तथा धनसंचय की खूब निन्दा करते हैं; कारण, यह योगी का अधःपतन लाता है। सारे शास्त्र इसी कथन का समर्थन करते हैं।

टि. सू. ३१ (क) यहां हम साधारण व्रत तथा महाव्रत नामक दो प्रकार के व्रत देखते हैं। साधारण व्रत बाह्यकर्म की श्रेणी तथा महाव्रत अध्यात्मकर्म की श्रेणी अर्थात् यथाक्रम पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा है।

योग्यता की विभिन्न श्रेणियों के इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यदि हम किसी भी प्रामाणिक-शास्त्र के आधार पर शुद्ध और सरल अन्तःकरण सहित पशुबलि संबंधीय शास्त्रविधियों को विचारें तो आधुनिक गुरुओं द्वारा प्रचारित परस्पर विरोधी मतवादों का समाधान अवश्य ही मिल जायेगा। भाष्यकार द्वारा यह पहिले ही कहा गया है कि समग्र सृष्टि अन्योन्याश्रित है तथा सारे भूत प्राणी परस्पर हित-साधन के कर्त्तव्यों से बंधे हुए हैं। इसी कारण शास्त्र उन नियमों का विधान देते हैं जिनसे हम एक दूसरे के हित पूर्ण कर सकते हैं। वैदिक यज्ञसंपादनार्थ पशुबलि किसी प्रकार का भी पाप नहीं है, दूसरी ओर यह पुण्य उत्पन्न करता है। यह यज्ञकर्त्ता तथा बध्य पशु दोनों के लिये कल्याणदायक है।

सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देव-ब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति।

उक्त तीनों से निवृत्त मनुष्य के लिये वही (अहिंसा) समय द्वारा भी सीमाबद्ध है– " मैं देवता और ब्राह्मणों के लिये ही हनन करूंगा "। इसप्रकार, क्षत्रियों द्वारा की जाने वाली हिंसा केवल युद्ध में ही है, अन्यत्र नहीं (ख) ।

एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्व-

अतः जाति, देश, काल तथा समय से सीमाबद्ध न हुई अहिंसादि का अवश्य ही सर्व प्रकार से पालन करना होगा। सर्वत्र, सब विषयों में, सब प्रकार से तथा किसी भी व्यतिक्रम बिना

प्राण प्राण के आश्रित है। दूसरे शब्दों में, एक प्राणी दूसरे प्राणी को खा कर ही जीवित रहता है (म. स्मृ. ५।२८)। एक शुद्ध शाकाहारी भी यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि वह जीवित प्राणियों को खा कर ही प्राण धारण करता है। आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि विश्व के प्रत्येक परमाणु में प्राण है। यह सिद्धान्त हमारे लिये नया नहीं है। इसे हमारे महर्षि जन स्मरणातीत काल से जानते थे। यही विषय आधुनिक जड़ विज्ञान द्वारा पुनः स्थापित किया गया है।

मनुष्य ही इस जगत् का श्रेष्ठतम जीव है। हमारे शास्त्रों का कथन है कि यदि बकरा (अथवा वैदिक यज्ञ में कोई भी पशु) देवताओं के अर्थ मरे तो परलोक में यह उच्च गति को प्राप्त होगा। प्रसन्न किये हुए देवताओं द्वारा यज्ञकर्त्ता को भी लाभ प्राप्त होगा। वैध कर्मों में देवताओं के लिये वह (यज्ञ कर्ता) धन खर्च करेगा जिससे उन कर्मों में भाग लेने वाले सब को लाभ होगा। साम्प्रदायिको के मिथ्या प्रचार से दोनों (यज्ञकर्ता व वध्यपशु) को हानि पहुंचती है। अतः पुण्य के झूठे दिखाव से प्रचारक लोग केवल पाप ही कमा रहे हैं। सर्वत्र विशेषतः साम्प्रदायिकों में हम यही प्रचार सुनते हैं तथा देखते हैं कि " अहिंसा परम धर्म (अहिंसा परमो धर्मः) है " परन्तु वे लोग उसी श्लोक के उत्तरार्ध अर्थात् " शास्त्रविधि अनुसार हिंसा भी वही परम धर्म है " (धर्महिंसा तथैव च) को न दिखाते हैं और न ही कभी इसका उच्चारण करते हैं।

इस ग्रन्थ की आकार वृद्धि के लिये कहां तक मैं उन श्लोकों को लिखता चला जाऊं ? संक्षेपतः मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत आदि ही इन सब संशयों को निवारण कर सकते हैं। यदि कोई सुगम उपाय से इस प्रकार की विधियों को जानना चाहे तो वह उन्हें हिन्दी में लिखित कात्यायन श्रौत-सूत्र की भूमिका से देखे जो अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, ललिताघाट, बनारस शहर से मिलती है।

(ख) " उक्त तीनों से निवृत्त मनुष्य " शब्द यह सूचित करते हैं कि प्रथमतः मानव को सामान्य व्रत में अच्छी प्रकार स्थित होना होगा अर्थात् जागतिक व्यक्तिगत भोगों से उसे पूर्णतया वैराग्य प्राप्त करना होगा। तत्पश्चात् उसे ब्राह्मण और देवताओं के अर्थ वेदविहित यज्ञों से निवृत्त होना चाहिये। गीता में इस विषयकी व्याख्या पूर्ण रूप से की गयी है। धन, पदवी या बल अथवा विशिष्ट योग्यतानुसार किसी न किसी रूप में वर्ण-भेद समग्र जगत्व्यापी देखा जाता है। परन्तु प्राच्य महर्षियों ने इस वर्ण-व्यवस्था के प्रश्न का कैसे समाधान किया है, वह गीता में वर्णित हो चुका है (भ. गी. ४।१३-१४)।

विषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ॥ ३१ ॥

जब उनका पालन होता है तब वे विश्वव्यापक हो कर महाव्रत (ग) कहलाती हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

मूलार्थ— शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान,— ये नियम हैं– ३२.

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। संतोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुत्पादित्सा। तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वं च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चैव यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।

"शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी॥" यत्रेदमुक्तं ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्चेति ॥ ३२ ॥

मिट्टी, जल तथा यज्ञ में अर्पित वस्तुओं (क) के खाने व पीने से उत्पन्न शौच बाह्य है। चित्त-मल को धोना आभ्यन्तर शौच है। जितना भी द्रव्य अपने पास है उसके अतिरिक्त और प्राप्त करने की इच्छा का अभाव सन्तोष है। द्वन्द्वों का सहन तप है। पुनः द्वन्द्व ये हैं— भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, खड़ा रहना और बैठना, बिल्कुल न बोलना तथा प्रयोजनानुसार बोलना और कृच्छ्रचान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रतों का यथायोग्य संपादन। मोक्षदायक शास्त्रों का अध्ययन अथवा प्रणव का जप स्वाध्याय है। सब बाह्यकर्मों को उस परमेश्वर में अर्पण करना ईश्वर-प्रणिधान है। (कर्म की अन्तिम सीमा दिखाते हुए यह कहा गया है कि) :— "शय्या में लेटा हुआ या आसन पर बैठा हुआ अथवा रास्ते में चलता हुआ, जिसका संशयजाल नष्ट हो चुका है, संसारबीज का नाश देखता हुआ नित्य मुक्त वह (योगी) अमृतभोग का भागी बनता है (ख)।" अतः यह कहा गया है कि इससे अन्तरात्मा की प्राप्ति होती है तथा बाधाओं का अभाव होता है (यो. सू. १।२९)।

(ग) महाव्रत केवल उसी के लिये संभव होता है, जिसने शास्त्राज्ञानुसार कर्तव्यों का यथाविधि संपादन किया है। यह महाव्रत उस धूर्त के लिये नहीं जो उच्चतर योग्यता का केवल ढोंग ही रचता है, परन्तु कार्यतः सांसारिक भोग-पिपासा की पूर्ति के उद्देश्य को ही एकमात्र अपने लक्ष्य में रखता है।

टि. सू. ३२ (क) यहां फल या मूल, दूध अथवा जल, वायु अथवा अग्निरूप किसी विशेष प्रकार के आहार का वर्णन नहीं है। केवल यज्ञ में अर्पित वस्तुओं का ही नाम लिया गया है। (भ. गी. १७।८-१० देखो)। प्रणव जप के अभिप्राय की व्याख्या पहिले अध्याय में की गयी है (यो. सू. १।१८)। (ख)

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

मूलार्थ— बुरे विचारों को हटाने के लिये विपरीत चिन्तन को बढ़ाने में (चित्त को अभ्यस्त करना है)- ३३.

एतेषां यमनियमानाम् वितर्कबाधने प्रतिपक्ष-भावनम्। यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन् हनिष्याम्यहमपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमान-स्तत्प्रतिपक्षान्भावयेत्। घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपगतः सर्वभूताभय-प्रदानेन योगधर्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्का-न्पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत्। यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति एवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥ ३३ ॥

यम और नियम के संबंध में बुरे विचारों को हटाने के लिये विपरीत चिन्तन को बढ़ाने में (चित्त को अभ्यस्त करना) आवश्यक है। जब इस ब्राह्मण (क) को हिंसादि के रूप में इस प्रकार के बुरे विचार आते हैं जैसे कि "मैं अपकार करने वाले को मारूंगा, मिथ्या भी कहूंगा, दूसरे का द्रव्य भी ग्रहण करूंगा, इसकी स्त्री के साथ व्यभिचार करूंगा, (दान) ग्रहण से मैं इसका स्वामी भी बनूंगा," तब पाप की ओर झुके हुए बुरे विचारों के तीव्र ज्वर से पीड़ित होता हुआ वह विपरीत चिन्तन को इसप्रकार बढ़ाये:— "पुनर्जन्म रूप अग्नि में दग्ध होता हुआ मैं सब भूतों को अभय दान दे कर योगधर्म की शरण में आया हूं। यदि वही मैं उन बुरे विचारों को एक बार त्याग कर फिर से अपनाऊं तो मैं आचरण में कुत्ते के समान बनूंगा"। वह इस प्रकार चिन्तन करे, "एक बार त्यागी हुई वस्तु को ग्रहण करने वाला मनुष्य उस कुत्ते के समान है जो अपनी उल्टी (वमन) को चाटता है"। अतः अन्य सूत्रों में भी इसे इसीप्रकार प्रयोग करना चाहिये।

परमेश्वर में सब कर्मों का यह अर्पण कर्म की अन्तिम सीमा है। यह स्थिति कर्म संपादन से ही आती है परन्तु बातों से प्राप्त नहीं की जा सकती जैसे आज कल साधारणतः देखा जाता है कि लोग दिनभर अथवा सारा सप्ताह तो पाप करते हैं और फिर कुछ मिनटों में तोते की न्याई रटी हुई प्रार्थना द्वारा अपने पाप कर्मों को ईश्वर में अर्पण कर देते हैं। चापलूसी द्वारा ईश्वर भुलाये नहीं जा सकते। (भाष्य में वर्णित) इतने गुण प्राप्त करने पर ही यह कर्मार्पण संभव होता है।

टि. सू. ३३ (क) यहां "यह ब्राह्मण" शब्द महाव्रत के योगी को सूचित करता है। अतः यह और अगले सूत्र उसी के लिये हैं जो मोक्ष को एकमात्र लक्ष्य रखता हुआ अध्यात्मकर्म की श्रेणी में स्थित है। यह अभिप्राय भाष्य से ही स्पष्ट है।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

मूलार्थः— हिंसा आदि के संबंध में बुरे कर्म-लोभ, क्रोध और मोह द्वारा किये जाते हैं, कराये जाते हैं तथा इन्हें करने का अनुमोदन दिया जाता है; वे मृदु, मध्य और अधिमात्र मात्रा वाले हैं-- विपरीत चिन्तनों को इसप्रकार बढ़ाना है- ३४.

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् । तत्र हिंसा तावत् कृतकारितानुमोदितेति त्रिधा । एकैका पुनस्त्रिविधा । लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति । लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधाः मृदुमध्याधिमात्रा इत्येवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः ।

वहां, हिंसा इस प्रकार की जाती है, कराई जाती है तथा करने की आज्ञा दी जाती है; इसलिये यह तीन प्रकार की है । "लोभ द्वारा" का अभिप्राय चर्म और मांस प्राप्ति से है, "क्रोध-द्वारा" का यह अर्थ है कि इसने मेरा अपकार किया है, "मोहद्वारा" का यह अभिप्राय है कि पुण्य मुझे प्राप्त होगा । पुनः मृदु, मध्य और अधिमात्र वाले लोभ, क्रोध और मोह तीन प्रकार के हैं । इस प्रकार इस हिंसा के सताईस विभाग हैं ।

मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिविधाः मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति । तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति । तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति । एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति ।

मृदु, मध्य और अधिमात्र मात्रायें पुनः तीन प्रकार की हैं—मृदु मृदु, मध्य मृदु और तीव्र मृदु; इसीप्रकार मृदु मध्य, मध्य मध्य और तीव्र मध्य; तथा मृदु तीव्र, मध्यतीव्र और अधिमात्र तीव्र । इस प्रकार से हिंसा इक्कासी विभाग वाली है ।

सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया, प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम् ।

पुनः प्राणियों के असंख्य विभाग होने के कारण नियम, विकल्प और समुच्चय (क) के विभागानुसार यह (हिंसा) असंख्य हो जाती है । इसी तरह इसका प्रयोग मिथ्या आदि में भी करना है ।

ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्तफला इति

"विपरीत चिन्तनों को बढ़ाना" – इसका अर्थ यह है कि बुरे विचार निःसन्देह दुःख और अज्ञान के अनन्त फलों वाले हैं अर्थात् दुःख और

टि. सू. ३४ (क) "नियम" उसे कहते हैं जहां यज्ञ संपादनार्थ एक पशु को अवश्य ही मारना पड़ता है, जैसे ज्योतिष्टोम, अन्वाहार्य, मासिक श्राद्ध इत्यादि में। "विकल्प" वह है जहां पशु मारा भी जा सकता

प्रतिपक्षभावनम्। दुःखमज्ञानं चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्।

तथा च हिंसकस्तावत्प्रथमं बध्यस्य वीर्यमाक्षिपति। ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति ततो जीवितादपि मोचयतीति। ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति। दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात् कथंचिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथंचित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासंभवम्।

अज्ञान उनके अनन्त फल हैं; ऐसे ही विपरीत चिन्तन को बढ़ाना है।

इसीतरह हिंसक प्रथमतः वध्य पशु की सारी शक्ति खींच लेता है, तत्पश्चात् शस्त्राघात से उसे दुःख पहुंचाता है और अन्त में उसे प्राण से भी पृथक् कर देता है। इससे अपनी शक्ति खर्च हो जाने के कारण उस (हिंसक) के चेतनाचेतन करण दुर्बल हो जाते हैं। दुःख देने से वह नरक, पशु तथा प्रेत आदि योनियों में दुःख भोगता है और प्राणियों को मारने से वह अपने जीवन से प्रतिक्षण तंग रहता हुआ मृत्यु की इच्छा करता हुआ भी किसी प्रकार जीता रहता है, कारण, दुःखभोग के नियत विपाक (प्रारब्ध) का फल अवश्य ही भोगना है। यदि हिंसा किसी प्रकार पुण्य से मिली हुई हो तो वह उस सुख को भोगने के लिये अल्पायु वाला होता है। इसप्रकार इसका प्रयोग यथासंभव मिथ्या आदि में भी करना है (ख)।

एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत। प्रतिपक्षभावनाहेतोर्हेया वितर्काः। यदास्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति ॥ ३४ ॥

अतः बुरे विचारों का बुरा फल सोचता हुआ कि "इसप्रकार के कर्मों का यह फल है"— योगी उन विचारों में अपना मन न लगाये। विपरीत चिन्तनों की वृद्धि से ही इन बुरे विचारों को त्यागना है। जब वे (बुरे विचार) योगी के लिये अनुपजाऊ हो जाते हैं तब उससे उत्पन्न हुई शक्ति उसकी सफलता का लक्षण बनती है।

और नहीं भी मारा जा सकता, और समुच्चय में स्थावर जङ्गम दोनों की बलि दी जाती है। (ख) भाष्यकार मिथ्या आदि को भी हिंसा की कोटि में रखते हैं, कारण जैसे अभ्युदय (सांसारिक सुख) के लिये शास्त्रों में पशु बलि की आज्ञा है, वैसे ही सांसारिक जीवन में शांति व व्यवस्था-स्थापनार्थ विशेष विशेष स्थानों पर मिथ्या भाषण, चोरी आदि भी विहित किये गये हैं। यह शास्त्रविधि केवल साधारणव्रत की श्रेणी वालों के लिये ही है। परन्तु इस भाष्य में दी गयी विधि केवल उसी के लिये है जो पूर्ववर्णित यम-नियमों का पालन करता हुआ एकमात्र महाव्रत में ही स्थित है। बाह्य यज्ञों को पूर्णतया त्यागने की उसे आज्ञा है। जिस मनुष्य ने साधारणव्रत के नियमों को पालन नहीं किया उसके लिये यह अहिंसा सर्वथा असंभव है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

मूलार्थ— अहिंसा दृढ़ होने पर उस (योगी) के समीप शत्रुता का त्याग- ३५.

तद्यथा— अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

ये (सिद्धियां) निम्नप्रकार की हैं:— अहिंसा दृढ़ होने पर उसके समीप आने से सब प्राणी वैर भाव को त्याग देते हैं (क)।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

मूलार्थ— सत्य दृढ़ होने पर कर्म और इसके फल पर विजय-प्राप्ति- ३६.

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः। स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति। अमोघास्य वाग्भवति ॥ ३६ ॥

(जब योगी कहे) " धार्मिक बनो, " तो मनुष्य धार्मिक बन जाता है। (पुनः जब वह कहे) " स्वर्ग को जाओ " तो मनुष्य स्वर्ग को पहुंचता है। उसकी वाणी झूठी नहीं हो सकती।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

मूलार्थ— अस्तेय दृढ़ होने पर सब श्रेष्ठ पदार्थों की उपस्थिति ॥ ३५ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

उसके पास सर्व ओर से सब श्रेष्ठ द्रव्य आते हैं।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

मूलार्थ— ब्रह्मचर्य दृढ़ होने पर वीर्यलाभ- ३८.

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। यस्य लाभाद्- प्रतिघान्गुणानुत्कर्षयति। सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

इसकी प्राप्ति से अप्रतिहत गुण बढ़ते हैं। पुनः इस प्रकार से सिद्ध हुआ योगी अपने शिष्यों को ज्ञान देने में समर्थ होता है।

टि. सू. ३५ (क) पूर्ववर्ती सूत्रों में वर्णित नियमों को जो योगी पूर्णतया पालन करता है उसे ये सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंता संबोधः ॥ ३९ ॥

मूलार्थ— अपरिग्रह (दान ग्रहण न करना) दृढ़ होने पर जन्म के " क्यों और कैसे " का साक्षात् अनुभव- ३९.

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोध अस्य भवति कोऽहमासं कथमहमासं किंस्विदिदं कथंस्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तापरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्थैर्ये सिद्धयो, नियमेषु वक्ष्यामः ॥ ३९ ॥

अपरिग्रह दृढ होने पर उसे जन्म के " क्यों और कैसे " का साक्षात् अनुभव होता है यथा —" मैं कौन था, मैं कैसा था, यह क्या है, यह कैसा है, हम क्या बनेंगे, हम कैसे बनेंगे " । इसप्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान से संबंध रखने वाले आत्मभाव की जिज्ञासा उसे ठीक ठीक रूप में प्राप्त होती है । यम दृढ होने पर सिद्धियां आती हैं। अब हम ' नियम ' दृढ होने पर आने वाली सिद्धियों का वर्णन करेंगे ।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

मूलार्थ— शौच से अपने शरीर के प्रति घृणा और दूसरों से न मिलना- ४०.

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः । स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गो यतिर्भवति । किंच? परैरसंसर्गः। कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायाशुद्धिमपश्यन्कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥

अपने शरीर से घृणा होने पर शौच को आरंभ करता हुआ संन्यासी शरीर के दोष देखता है और इससे अनासक्त हो जाता है। और क्या? दूसरों के साथ न मिलना। शरीर के स्वभाव को जानने वाला इसे जल व मिट्टी आदि से धोने पर भी इसकी अशुद्धि को देखता हुआ अपने शरीर को भी त्यागने की इच्छा रखता है। अत्यन्त अशुद्ध दूसरे शरीरों के साथ वह कैसे मिल सकता है (क) ?

टि. सू. ४० (क) यह योगी ऐसा धूर्त व मूर्ख नहीं कि अपना शरीर, अपनी स्त्री, पुत्र-कन्या, संबधी अपना समाज तथा अपने बिल्ली व कुत्ते के शरीर में शुद्धि देखे और दूसरे वर्ण तथा समाज के लोगों के शरीर से एवं दूसरों के मंदिरों में भगवान् की मूर्तियों से भी घृणा करे ।

महाव्रत का योगी सब का पूज्य है । वह सांसारिक शोर से पूर्णतया बाहर रहता हुआ केवल अध्यात्म-कर्म में ही मग्न रहता है । शरीर के दोष तथा अशुद्धि के कारण जब योगी अपने शरीर को ही त्यागने के लिये सदा प्रस्तुत है तो वह मांस-रक्त, मल-मूत्र के भंडार रूप अपनी स्त्री के शरीर से कैसे मिल सकता है ? आगे आने वाला सूत्र सुन्दरतापूर्वक उसका चरित्र वर्णन करता है ।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

मूलार्थ- सत्वशुद्धि, मन की उदारता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन के लिये योग्यता-४१.

किंच ? सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च । भवन्तीतिवाक्यशेषः । शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत ऐकाग्र्यं तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

और क्या ? सत्वशुद्धि, मन की उदारता, एकाग्रता, इन्द्रिय-जय और आत्मदर्शन आते हैं। "आते हैं" शब्द वाक्य को पूरा करता है। शौच से (चित्त की) शुद्धि आती है, इससे उदारता, तब एकाग्रता और फिर इन्द्रिय-जय और तत्पश्चात् बुद्धिसत्व को आत्मदर्शन की योग्यता आती है। ये सब शौच की दृढ़ता से ही प्राप्त होते हैं।

संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

मूलार्थ-- संतोष से परम सुख की प्राप्ति होती है- ४२.

संतोषादनुत्तमः सुखलाभः । तथा चोक्तम्—"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥" इति ॥ ४२ ॥

इसलिये यह भी कहा गया है कि "इस जगत् में जो कुछ भी काम सुख है तथा स्वर्ग में जो कुछ भी महान् सुख है, यह सब इच्छाओं के अभाव से उत्पन्न सुख के सोलहवें भाग के समान भी नहीं है (महाभारत)।"

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

मूलार्थ- तप से अशुद्धियों का नाश होता है जिससे शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि आती है-४३.

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं, तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या । तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणमननाद्येति ॥ ४३ ॥

तप संपादित होकर ही अशुद्धिरूप आवरण के मल को नष्ट करता है। मल का वह आवरण नष्ट होने पर अणिमा आदि (क) शरीर की सिद्धियां आती हैं। उसीप्रकार दूर से श्रवण व परचित्त-ज्ञानादि इन्द्रियों की सिद्धि (आती है)।

टि. सू. ४३ (क) इन अणिमादि का वर्णन तीसरे अध्याय में होगा (यो. सू. ३।४४.)।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

मूलार्थ— स्वाध्याय (क) से इष्टदेवता के साथ मिलन होता है- ४४.

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः । देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति ॥ ४४ ॥

स्वाध्याय में लगे हुए योगी को देवता, ऋषि और सिद्धगण दर्शन देते हैं और वे उसी के कार्य में लग जाते हैं।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

मूलार्थ-- ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर में अनन्य ध्यान) से समाधि में सिद्धि— ४५.

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः । यथा सर्वमीप्सितमवितथं जानाति, देशान्तरे, देहान्तरे, कालान्तरे च ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥ ४५ ॥

ईश्वर में अपनी सारी सत्ता अर्पण करनेवाले को समाधि में सिद्धि मिलती है । देशान्तर, देहान्तर व कालान्तर के संबंध में जो कुछ भी वह जानना चाहता है उसे यथार्थ रूप में जानता है । इससे उसकी प्रज्ञादृष्टि सब का वास्तविक स्वरूप भली प्रकार जानती है (क) ।

सू. ४४ (क) यह स्वाध्याय केवलमात्र वाणी की प्रार्थना नहीं है; परन्तु इसे शुद्ध हृदय से संपादन करने में तीव्र प्रयत्न की आवश्यकता है।

नास्तिक और चंचुज्ञानी ब्रह्मवादी भाष्यकार के इस कथन में विश्वास नहीं भी रख सकते, वे इसे रोचकवाणी ही मान सकते हैं; परन्तु इससे हमें क्या ! वे स्वयं ही अपने नाश का कारण होते हैं । हमारे प्राचीन ग्रन्थों तथा गुरुनानक, कबीर, नरसिंह महेता आदि आधुनिक साधु पुरुषों की जीवनियों में भी हम ऐसे कई दृष्टांत देखते हैं । पुनः इस प्रकार के दृष्टांत ग्रन्थसाहिब में भी भरे पड़े हैं । यदि हम अपने स्थान पर राजा को लाना चाहें तो हमें एक विशेष क्रियाविधि तथा आवश्यकीय नियमों का पालन करना पड़ता है, वैसे ही जब तक हम शास्त्रविहित क्रियाविधि का अनुसरण न करें तो राजाओं के राजा विश्व के परमपति को अपने पास लाने की कभी भी आशा नहीं रख सकते ।

सू. ४५ (क) अपनी इच्छित वस्तु का पुनः पुनः चिन्तन करना ही मन का स्वभाव है । अतः ईश्वर जिसके लिये सब से प्रियतम हैं वह उनकी प्राप्ति की उत्कट इच्छा तथा उनके साथ मिलनार्थ तीव्र प्रयत्न करता है । इसीकारण, योग की आरंभ सीमा को सूचित करते समय " ईश्वर-प्रणिधान " शब्द को ईश्वर-प्राप्ति की तीव्र इच्छा के अर्थ में लिया गया है और जब वही शब्द योग की अन्तिम सीमा को सूचित करता है तो उसे ईश्वर में अनन्य ध्यान के अर्थ में लिया जाता है ।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

मूलार्थ— आसन स्थिर और सुखकर है– ४६.

उक्ताः सहसिद्धिभिर्यमनियमाः । आसनादीनि वक्ष्यामस्तत्र— स्थिरसुखमासनम् । तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यंकं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि ॥ ४६ ॥

सिद्धियों सहित यम और नियमों का वर्णन हो चुका है। (अब) हम आसन आदि (अर्थात् योग के अन्य अंगों) की व्याख्या करेंगे। वहां, आसन स्थिर और सुखकर है यथा— पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दंडासन, सोपाश्रय, पर्यंक, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुख, यथासुख, इत्यादि।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

मूलार्थ— प्रयत्नों में शिथिलता से और अनन्त में चित्तसमापत्ति से– ४७.

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । भवतीति वाक्यशेषः । प्रयत्नोपरमात्सिध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥ ४७ ॥

प्रयत्नों में शिथिलता से और अनन्त में चित्त-समापत्ति से आसन स्थिर और सुखकर बनता है —ऐसे वाक्य पूर्ण होता है। प्रयत्न समाप्त होने पर आसन सिद्ध होता है जिससे शरीर ढीला नहीं रहता (क)।

अथवा चित्त अनन्त में तद्रूप (तदाकारापन्न) हो कर आसन को सिद्ध करता है (ख)।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

मूलार्थ— उससे द्वन्द्वजन्य विघ्न का अभाव– ४८.

ततो द्वन्द्वानभिघातः । शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

आसन पर विजय प्राप्त करने से योगी सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों से दुःखित नहीं होता।

टि. सू. ४७ (क) इससे यह स्पष्ट है कि आरंभ काल में आसन के लिये बहुत ही प्रयत्न तथा कठिन परिश्रम की आवश्यकता है, परन्तु सिद्ध होने पर यह शरीर में किसी प्रकार का दुःख न पहुंचाता हुआ सदा ही दृढ़ रहता है।

(ख) चित्त की विषय-भोगेच्छा रूप स्थूल मल से मुक्त हुए योगी के लिये ही यह पक्षान्तर है। योग के बहिरंग साधनों की वह कोई आवश्यकता नहीं रखता। धारणा, ध्यान और समाधि नामक योग के अंतरंग साधन ही उसके योग्य हैं (जिनका वर्णन प्रथम अध्याय में हो चुका है और फिर तीसरे अध्याय में किया जायेगा)। परन्तु समाधि के तीसरे पद को प्राप्त करने पर उसे व्यक्त और अव्यक्त सद्गुण अर्थात् योग के बहिरंग और अंतरंग साधनों के फल स्वभावतः ही प्राप्त होते हैं।

तस्मिन्त्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

मूलार्थ — उसकी प्राप्ति पर श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद रूप प्राणायाम आता है– ४९.

तस्मिन्त्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। सत्यासनजये वाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः। कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः। तयोर्गतिविच्छेदे उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसन जय होने पर प्राणायाम अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद आता है। बाह्य वायु को अन्दर लेना श्वास है और फेफड़ों की आभ्यन्तरिक वायु को बाहर फेंकना प्रश्वास है। इन दोनों की गति के विच्छेद में दोनों का अभाव प्राणायाम है (क)।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

मूलार्थ — बाह्य (रेचक), आभ्यन्तर (पूरक) और स्तम्भ (कुम्भक) वृत्ति वाला तथा देश, काल और संख्या से नियमित हो कर प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है– ५०.

स तु— बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति।

वह (प्राणायाम) तब दीर्घ और सूक्ष्म होता है जब उसकी बाह्य, आभ्यन्तर तथा स्तम्भ वृत्तियां देश, काल और सख्या से नियमित हों। प्रश्वास के पश्चात् जो गति का अभाव है वह बाह्य है और श्वास के पश्चात् जो गति का अभाव है वह आभ्यन्तर है। तीसरी स्तम्भ वृत्ति है जहां एक ही प्रयत्न से दोनों का अभाव हो जाता है।

यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति। त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति, कालेन परिदृष्टाः क्षणानामियत्तावधारणेना-

गरम किये हुए पत्थर पर डाला हुआ पानी जैसे संकुचित हो जाता है, वैसे ही इन दोनों की गति का एक ही साथ अभाव होता है। पुनः ये तीनों (प्राणायामकी वृत्तियां) देश द्वारा नियमित हैं। "इतना ही इसका क्षेत्र है"— यह देश को सूचित करता है। ये काल द्वारा नियमित अर्थात् क्षणों की अवधि के निर्धारण से

टि. सू. ४९ इससे यह स्पष्ट है कि आसनजय किये बिना प्राणायाम की आज्ञा नहीं है। इसीकारण ही इस नियम को न जानता हुआ जो मनुष्य प्राणायाम करता है, वह कई प्रकार की बीमारियों से आक्रांत होता है, कारण, आसन नाडियों की शुद्धि लाता है। जिससे योगी में चरबी नहीं बढ़ती। उसका शरीर युवक की न्याई कोमल रहता है और उसे कोई स्थायी बीमारी नहीं होती (शिवसंहिता देखो)।

वच्छिन्ना इत्यर्थः, सङ्ख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः । एवं मृदुरेवं मध्यः एवं तीव्र इति सङ्ख्यापरिदृष्टः स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सीमित है—यही इसका अभिप्राय है । ये संख्या द्वारा नियमित हैं अर्थात् "प्रथम आरंभ इतने श्वास-प्रश्वासों से किया जाता है;" इसीप्रकार, नियमित किये हुए प्राणायाम का दूसरा आरंभ इतनों से और इसी प्रकार तीसरा भी । इसप्रकार यह मृदु, इसप्रकार यह मध्य और इसप्रकार यह तीव्र है । यह प्राणायाम निःसन्देह संख्या से नियमित है और इसका निरन्तर इस प्रकार अभ्यास करने से यह दीर्घ और सूक्ष्म होता है ।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

मूलार्थ— चौथा (प्राणायाम) बाह्य और आभ्यन्तर क्षेत्रों को अतिक्रम करता है- ५१.

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः । देशकालसङ्ख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः । उभयथा दीर्घसूक्ष्मः । तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः ।

पूर्ववर्णित देश, काल तथा संख्या से नियमित बाह्य क्षेत्र पार किया गया है; इसीप्रकार से नियमित आभ्यन्तर क्षेत्र भी पार किया गया है । यह (प्राणायाम) दोनों प्रकार से दीर्घ और सूक्ष्म है। ये दोनों चौथे प्राणायाम के पूर्ववर्ती हैं और यह (चौथा प्राणायाम) भूमियों पर विजय-प्राप्ति से उन दोनों की गति का क्रमिक अभाव है।

तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।

तीसरा प्राणायाम गति का वह अभाव है जहां क्षेत्रों पर ध्यान नहीं दिया जाता और जो केवल एक ही बार आरंभ होता है तथा जो देश, काल और संख्या से नियमित हो कर दीर्घ और सूक्ष्म होता है ।

चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति ॥ ५१ ॥

श्वास-प्रश्वास के क्षेत्रों के निर्धारण से भूमियों पर क्रमिक विजय-प्राप्ति द्वारा उन दोनों (बाह्य व आभ्यन्तर) के पार जाने के पश्चात् जो गति का अभाव है, वह चतुर्थ प्राणायाम है । यही विशिष्ट चौथा प्राणायाम है ।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

मूलार्थ– उससे प्रकाश का आवरण नष्ट होता है– ५२.

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म यत्तदाचक्षते— महामोहमयेनेन्द्रियजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुक्तमिति । तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते । तथा चोक्तम्— तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति ॥ ५२ ॥

प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी के विवेकज्ञान को ढकने वाला कर्म नष्ट होता है। यही विवेकी जन कहते हैं— "महामोह से परिपूर्ण इन्द्रियजाल द्वारा प्रकाश-स्वभाव वाला सत्त्व ढका जा कर उसी कर्म से पाप में नियुक्त होता है"। प्रकाश को ढकने वाला तथा पुनर्जन्म का कारण रूपी योगी का यह कर्म प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल होता है तथा प्रतिक्षण नष्ट होता जाता है। इसीलिये यह भी कहा गया है— "प्राणायाम से परे कोई तप नहीं है, इससे मलों की शुद्धि होती है तथा ज्ञान की ज्योति बढ़ती है"।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

मूलार्थ— और धारणा के लिये मन की योग्यता– ५३.

किंच, धारणासु च योग्यता मनसः; प्राणायामाभ्यासादेव । प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् ॥ ५३ ॥

अधिक क्या होता है? प्राणायामाभ्यास द्वारा निःसंदेह धारणा के लिये मन की योग्यता मिलती है, कारण, यह सूत्र "अथवा प्राण के रेचक और कुम्भक से"– इसका प्रमाण है (यो. सू. १।३४)।

टि. सू. ५३ (प्राणायाम को वर्णन करने वाले) ये सूत्र पूर्णतया स्पष्ट करते हैं कि प्राणायाम सब तपों से श्रेष्ठ है। यह मन का स्थूल मल हटाकर इसे धारणा के लिये योग्य बनाता है। अतः यह सिद्ध है कि प्राणायाम स्वयं समाधि नहीं, परन्तु यह केवल चित्तशुद्धि का एक उपाय है जो मन को इन्द्रियों के दबाव से मुक्त करता है।

इस भाष्य के आधार पर आओ हम उन आधुनिक योगी-राजाओं के तमाशों का विचार करें जो दीर्घकाल तक पृथ्वी के नीचे समाधि-स्थिति दिखाने का व्यापार खोले हुए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राणायाम में एक सिद्धि है जहां मन ज्ञानशून्य अवस्था प्राप्त करता है (यो. सू. ३।३०)। इस प्रकार की समाधि यथार्थ समाधि नहीं, यह तो केवल एक जड़ स्थिति है। तथापि इस अवस्था को प्राप्त करने वाला प्रशंसनीय है। परन्तु क्या आजकल के तथाकथित योगीराज सचमुच ऐसी कोई शक्ति रखते हैं? प्राणायाम में सफलता के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यकीय आसन पर क्या उन्हों ने विजय प्राप्त की है? यह कैसे हो सकता है कि पृथ्वी के नीचे तीन महीनों तक समाधि में रहनेवाले बाहर एकान्त तथा खुले स्थान में तीन घंटों तक भी दृढ़ आसन में न बैठ सकें? जब वे लोग यह छोटा सा खेल भी नहीं दिखा सकते तो उन बड़े तमाशों के दिखाव में अवश्य ही कुछ दोष है। यह केवल मात्र कामरूप की डाइनी विद्या के जादू का खेल है। जनसाधारण की दृष्टि व ध्यान आकर्षण करने के लिये तथा सांसारिक भोगसंबंधीय नीच स्वार्थसिद्धि के उद्देश्य से ही केवल उक्त योगीराज लोग उन शक्तियों का प्रयोग करते हैं।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

मूलार्थ— अपने विषयों के साथ संयोगाभाव में चित्त-स्वरूप का अनुकरण रूप इन्द्रियों का कार्य प्रत्याहार है— ५४.

अथ कः प्रत्याहारः ? स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

अब प्रत्याहार क्या है ? अपने विषयों के साथ संयोगाभाव में चित्तस्वरूप का अनुकरण रूप इन्द्रियों का कार्य प्रत्याहार है।

स्वविषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति । चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते । यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्त-निरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

अपने विषयों के साथ संयोगाभाव में इन्द्रियों का कार्य ऐसा होता है जैसे कि वह चित्तस्वरूप का अनुकरण हो। (तत्पश्चात्) चित्त के निरोध होने पर चित्त की तरह इन्द्रियां निरुद्ध होकर अन्य इन्द्रियों पर विजय-प्राप्ति की न्याईं और किसी दूसरे उपाय पर निर्भर नहीं करती। जैसे मधु मक्खियां अपने उड़ते हुए राजा के साथ उड़ती हैं और उसके बैठने पर सब बैठ जाती हैं, इसीप्रकार चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियां भी निरुद्ध हो जाती हैं। यह प्रत्याहार है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

मूलार्थ— उससे इन्द्रियों की परम वश्यता— ५५.

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । शब्दा-दिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित् । सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति ।

कोई कहते हैं कि शब्दादि के प्रति अनासक्ति ही इन्द्रिय-जय है, कारण, आसक्ति व्यसन है; यह योगी को श्रेय से भ्रष्ट करती है (क)।

अविरुद्धप्रतिपत्तिर्न्याय्या । शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये ।

दूसरे कहते हैं कि शास्त्रविहित भोग न्याय-संगत हैं, इसलिये अपनी इच्छा से शब्दादि के साथ संयोग इन्द्रिय-जय है (ख)।

रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादि-ज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित् ।

औरों का कथन है कि राग-द्वेष के अभाव में सुख-दुःख से शून्य शब्दादि का अनुभव इन्द्रिय-जय है (ग)।

टि सू. ५५ (क) यह भगवद्गीता में वर्णित श्रेय लक्ष्य को सूचित करता है। (ख) यह काम्यलक्ष्य को

चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे-निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत्प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥

परन्तु जैगीषव्य कहते हैं कि यह (इन्द्रिय-जय) चित्त की एकाग्रता के कारण केवल ज्ञान का अभाव है। इसी कारण यही निःसन्देह परम वश्यता है जो चित्त के निरोध से इन्द्रियों का निरोध है (घ)। दूसरी इन्द्रियों पर विजय-प्राप्ति की न्याईं योगीगण प्रयत्न से किये जाने वाले और किसी उपाय पर निर्भर नहीं करते।

दिखाता है। (ग) यह संप्रज्ञात-समाधि-क्षेत्र में कर्म की अन्तिम सीमा है। (घ) यह असंप्रज्ञात समाधि अवस्था को सूचित करता है। भगवान् जैगीषव्य के आधार पर यहां भाष्यकार अपने सिद्धांत को पुष्ट करते हैं। पुनः योग के बहिरंग साधनों के विषय को ग्रन्थकार यहां समाप्त करते हैं। मन का झुकाव सदा ही अपने यथार्थ स्वरूप शांति की खोज में लगा रहता है, परन्तु इन्द्रियों की प्रबल शक्ति इसे विषयों की ओर झुकाये रखती है। इसीलिये ये पांच बहिरंग साधन चित्त का स्थूलमल धोने के लिये अर्थात् इन्द्रियों की वश्यता से मन को मुक्त करने के लिये अतीव आवश्यक हैं। कर्म-संस्कार रूप चित्त का सूक्ष्म मल धोने की विधि प्रथम अध्याय में वर्णित हो चुकी है और फिर योग के अंतरंग साधनों के प्रसंगानुसार तीसरे अध्याय में इसका वर्णन किया जायेगा।

यहां सांख्य के श्रेष्ठतम उपदेश में पतञ्जलि द्वारा प्रणीत योगविज्ञान संबंधीय साधन-निर्देश नामक दूसरा अध्याय समाप्त होता है ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

सिद्धि पाद

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

मूलार्थ— देशविशेष में चित्त का बन्धन धारणा है- १.

उक्तानि पञ्च बहिरङ्गानि साधनानि । धारणा वक्तव्या— देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । नाभिचक्र हृदयपुण्डरीके मूर्धनि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥

पांच बहिरंग साधनों का वर्णन हो चुका है। (अब) धारणा का वर्णन करना है । देशविशेष में चित्त का बन्धन धारणा है । नाभिचक्र, हृदयकमल, शिर, ज्योतिर्मय अंश, नासिका का अग्र भाग, जिह्वा का अग्रभाग आदि स्थानों में अथवा किसी बाह्य विषय में प्रत्येक वृत्ति द्वारा चित्त का बन्धन धारण है (क) ।

सू. १ (क) समाधि-प्राप्ति के लिये धारणा पहिला पद है । जैसे जिस भूमि पर शिशु गिरता है वही भूमि उसके उठने का एकमात्र आश्रय बनती है, वैसे ही यह विशेष-गुणपर्व अन्तिमसीमा है जहाँ हम गिरे हैं और केवल इसी आलंबन की सहायता से ही हमें पुनः उठना है ।

ऐसे बहुत से लोग हैं जो भगवान् के प्रतीक रूप मूर्तियों के पूजन से, जड़ की आराधना समझ कर, घृणा करते हैं । परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर हम सुगमता से समझ सकते हैं कि केवल इस प्रकार की उपासना ही भगवान् के साथ साक्षात् मिलन का एकमात्र उपाय है । पत्थर व वृक्ष आदि को पूजने वाले उपासक गण प्रत्येक वृक्ष व पत्थर की उपासना नहीं करते, वे तो केवल किसी विशेष पत्थर व वृक्ष को ही भगवान् का प्रतीक समझ कर पूजते हैं । येही उपासक सच्चे भावुक हैं, येही केवल भगवान् की विश्वव्यापकता का अनुभव कर सकते हैं और आध्यात्मिकता के चरम पद पर पहुंचने के लिये योग्य बनते है । इस प्रकारके पूजन का शास्त्र अनुमोदन करते हैं ।

इसके विपरीत, जगत् के सब दार्शनिक पंडितों ने यह माना है कि मनुष्य का सीमाबद्ध मन किसी भी निर्गुण अनन्त वस्तु का यथार्थ अनुभव नहीं कर सकता । इसलिये मैं यह समझ नहीं पाता कि मूर्तिद्वेषी (अथवा निराकार-वादी या मूर्ति-विरोधी समाज के सदस्य चाहे किसी भी नामसे आप उन्हें पुकारें) भगवान् की आराधना करते समय क्या सोचते हैं । क्या वे गन्धर्व नगर (आकाशकुसुम) का ध्यान किया करते हैं ? यदि ऐसा न हो तो वे अवश्य ही प्रार्थनाकाल में अपनी स्त्री, बच्चे तथा अपने कार्यालय की कुर्सियां व मेज़ अथवा अपने बाबासाहिब या ऐसे ही कुछ न कुछ सोचते होंगे । अतः यह स्पष्ट है कि वे वास्तव में सब से निकृष्ट मूर्तिपूजक हैं जो आजतक देखे गये हैं ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

मूलार्थ— वहां ज्ञान की एकतानता ध्यान है-२.

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ २ ॥

ध्येयालंबन के उसी देश में ज्ञान (चित्त की निरोधमुखी वृत्ति) की एकतानता अर्थात् किसी दूसरे ज्ञान (वृत्ति) से अमिश्रित एक ही प्रकार का प्रवाह ध्यान है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

मूलार्थ— वही (ध्यान) स्वयं केवल सत्य का ही प्रकाश रखता हुआ तथा अपने आकार से शून्य की न्याईं हो कर समाधि होता है- ३.

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

ध्येयाकार के प्रकाश को रखता हुआ जब ध्यान स्वयं ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप उदय होने के कारण अपने (बहिर्मुखी) ज्ञानात्मक स्वरूप से शून्य सा हो जाता है तब वह समाधि कहलाता है (क)।

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

मूलार्थ— उन तीनों का एकत्र संयम है- ४.

त्रयमेकत्र संयमः। तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः। एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

धारणा, ध्यान व समाधि— इन तीनों का एकत्र संयम है। एक ही विषय में तीनों का प्रयोग संयम कहलाता है। इस त्रिक का शास्त्रीय पारिभाषिक नाम संयम है।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

मूलार्थ— इसके जय से प्रज्ञा दृष्टि का उदय होता है - ५.

तज्जयात्प्रज्ञालोकः। तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥ ५ ॥

उस संयम की जय से समाधिप्रज्ञा दृष्टिगोचर होती है। जैसे जैसे संयम दृढ स्थिति को लाभ करता है, वैसे वैसे ही समाधिप्रज्ञा और भी उज्वल होती जाती है।

टि. सू. ३ (क) निर्वितर्का समापत्ति के प्रसंग में यह विषय पहिले अध्याय में वर्णित हो चुका है (यो. सू. १।४३)।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

मूलार्थ-- इसका प्रयोग भूमियों में से है- ६.

तस्य भूमिषु विनियोगः। तस्य संयमस्य जितभूमेर्यानंतराभूमिस्तत्र विनियोगः। नह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः?

इस संयम का प्रयोग उस भूमि में होना है जो जीती हुई भूमि की अगली भूमि है। कारण जिसने निम्न भूमि को नहीं जीता, वह बीच वाली भूमि का उल्लंघन करके ऊंची भूमि में संयम प्राप्त नहीं कर सकता। इस लिये इसके अभाव होने के कारण उसकी प्रज्ञादृष्टि उसे कहां से दृष्टिगोचर होगी (क)?

ईश्वरप्रणिधानाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः। कस्मात्तदर्थस्यान्यथैवावगतत्वात्।

पुनः ईश्वर में अनन्य ध्यान (ईश्वरप्रणिधान) के बल से उच्चतर भूमि में स्थित योगी के लिये निम्न भूमि विषयक परचित्त ज्ञानादि में संयम आवश्यक नहीं होता। क्यों? अन्यप्रकार से उस सत्य की प्राप्ति के कारण (ख)।

भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः। कथम्? एवं ह्युक्तम् — "योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते। योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरमिति" ॥ ६ ॥

यहां "इस भूमि के आगे आने वाली भूमि यह है"— इसका निर्देशक केवल योग ही है। कैसे? क्यों कि ऐसा कहा गया है कि "योग (क्रियाविधि) से ही योग (समाधि) जाना जाता है; योग (ध्यान) से योग (समाधि) आता है; योग (समाधि) में तत्पर पुरुष ही योग (मिलन) में सदा आनन्द लेता है" (ग)।

टिः सू. ६ (क) इससे भाष्यकार श्रेष्ठतम फलप्राप्ति के लिये अपना क्षेत्र सुधारने की आवश्यकता को दृढ़ करते हैं। वे स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं कि यथायोग्य क्रियाविधि को अपनाये बिना कोई भी मनुष्य सफलता की आशा नहीं रख सकता। यह सूत्र पहिले अध्याय के १७ वें सूत्र में संप्रज्ञात समाधि के क्रमिक पदों को सूचित करता है।

(ख) इस नियम के संबंध में वामदेव, प्रह्लाद, सुखदेव, जड़भरत आदि योग्य उदाहरण हैं। उन्हों ने किसी प्रणाली व विधि का पालन नहीं किया। ईश्वर पर अनन्यध्यान के बल द्वारा जन्म काल से ही वे सब विभूतियों व सिद्धियों सहित योग की अन्तिम भूमि में स्थित थे। यह केवल दैव है परन्तु उपाय नहीं। पुनः जिसे हम दैव कहते हैं, वह पूर्व जन्मों में किये हुए कठिन परिश्रम का परिपक्व फल है (भ. गी. ६।४०-४५)।

(ग) ऐसे बहुत से प्रचारक हैं जो अपनी भक्ति अथवा ज्ञान की काल्पनिक भावधारा पर अहंकार रखते हैं। वे अपने आप को शुद्ध तत्व ब्रह्म अथवा भगवान् के पार्षद मान कर सर्वज्ञ बने बैठे हैं। इस

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

मूलार्थ-- यह त्रिक पूर्ववर्तियों से अन्तरंग है- ७.

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

धारणा, ध्यान व समाधि रूप यह त्रिक संप्रज्ञात समाधि के लिये पूर्ववर्ती यमनियम आदि पांच (बहिरंग) साधनों से अन्तरङ्ग है।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

मूलार्थ— यह भी निर्बीज (समाधि) का बहिरंग होता है- ८.

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य। तदप्यन्तरङ्गं

वह अंतरंग साधन त्रिक भी निर्बीज समाधि

कारण वे वह प्रचार करते हैं कि यदि उनके लिये कोई कर्त्तव्य है भी तो वे उसे पूर्वजन्म में समाप्त कर चुके हैं। वे अपने अनुगामियों को इस प्रकार का विश्वास दिलाते हैं कि शास्त्रविहित विधि-व्यवस्था का पालन उनके अनुगामियों के लिये भी आवश्यक नहीं है। तदनुसार, विशेष विशेष तिलकों अथवा नामों से अपने को दूसरों से पृथक् रखते हुए वे मुक्तिविषयक काल्पनिक सिद्धांत पर घमंड रखते हैं।

कई दूसरों का कहना है कि जितने भी मतमतान्तर हैं, भगवान् को पाने के लिये उतने ही पथ हैं। इसलिये उनके मतानुसार योग एक पक्षान्तर उपाय है परन्तु सब के लिये अवश्य कर्त्तव्य नहीं।

आओ, प्रथम पक्ष को देखें। अनुमान करो कि शारीरिक व्यायाम द्वारा एक मनुष्य भारी बोझ उठाने के लिये शक्तिशाली है। दूसरा पुरुष बिना किसी व्यायाम के स्वभावतः ही ऐसा भार उठाने की शक्ति रखता है। प्रथमोक्त साधन (उपाय) है और शेषोक्त दैव। पुनः यदि कोई मनुष्य अपने को इस प्रकार प्रचार करे कि वह स्वभाव से ही श्रेष्ठ शक्ति से युक्त है परन्तु काम के समय एक पत्थर का टुकड़ा भी न उठा सके तो क्या हम उसे शक्तिशाली मानेंगे? क्या हम उसे मिथ्यावादी तथा प्रवंचक न कहेंगे? अतः अपने ज्ञान चंचु मित्रों से मेरा यह अनुरोध है कि इस भाष्य के आधार पर वे अपनी शक्ति की परीक्षा करें तथा निर्णय करें कि मुक्ति-पथ पर वे कहां तक अग्रसर हुए हैं। जब वे ध्यान काल में स्थूलालंबन भी नहीं ले सकते तो मोक्ष की सूक्ष्म भूमि में पहुंचने के लिये वे कैसे समर्थ हो सकते हैं? उनके व्यक्त व अव्यक्त सद्गुण कहां हैं? उनकी भविष्य गति उस खरगोश के समान है जो शिकारी कुत्ते से अनुधावित हुआ यह सोच कर अपने नेत्र बन्द कर लेता है कि शिकारी कुत्ता उसे देख नहीं पायेगा। परन्तु ऐसा अन्ध विश्वास उस भयंकर शिकारी कुत्ते से उसे कभी भी बचा नहीं सकता।

दूसरा विचार यह है— यदि व्यक्तिगत मत अर्थात् व्यक्तिगत कल्पना भगवान् को प्रत्यक्ष करने का उपाय हो तो भगवान् भी काल्पनिक बन जायेंगे (गीता के हिन्दी अनुवाद का प्राक्कथन देखो); फिर वे सत्य 'वस्तु' कैसे हो सकते हैं? क्या भगवान् हमारे मन की कल्पना हैं? क्या शास्त्र ऐसा ही कहते हैं? आजकल लोगों का इस प्रकार का ही उल्टा ज्ञान है। शास्त्र जिसे सहजसाध्य कर्म कहते हैं वह तो बहुत ही कठिन माना जाता है और जिसे कठिन कहते हैं, वह अति सुगम समझा जाता है। महामोह नामक उल्टे ज्ञान के भयंकर स्वरूप से ही ऐसी भावधारा उत्पन्न होती है। अतः, ईश्वर के सम्मुख ले जाने के लिये योग ही एकमात्र पथ है। कृपया इस प्रयोगशाला में आकर इस 'सत्य' को प्रत्यक्ष करो और कृतार्थ हो जाओ।

साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरंगं भवति। कस्मात्तदभावे भावादिति ॥ ८॥

का बहिरंग बनता है। क्यों ? उस त्रिक के अभाव से इसके उदय होने के कारण (क)।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

मूलार्थ-- निरोध क्षणों के चित्त से संबंधित निरोध-परिणाम व्युत्थान और निरोध संस्कारों का यथाक्रम लय होना और बढ़ना है- ९.

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः ? व्युत्थाननिरोध-संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।

जब गुणों की वृत्ति सदा परिणामी है, तब निरोधचित्त के क्षणों में चित्त-परिणाम कैसा होता है ? निरोध क्षणों के चित्त से संबंधित निरोध-परिणाम व्युत्थान और निरोध संस्कारों का यथाक्रम लय होना और बढ़ना है। व्युत्थान संस्कार चित्त के धर्म हैं। वे प्रत्यय (वृत्ति-ज्ञान) के स्वभाववाले नहीं है (क), इसलिये प्रत्यय के निरोध होने पर वे निरुद्ध नहीं होते। निरोधमुखी संस्कार भी चित्त के धर्म हैं। "उनका यथाक्रम लय होना और बढ़ना"-- कथन का यह अर्थ है कि चित्त के व्युत्थान-संस्कार नष्ट होते हैं और निरोध-संस्कार बढ़ते हैं।

टि. सू. ८ (क) उदाहरणार्थ :— निद्रावस्था व्यक्तिगत प्रयत्नों से प्राप्त नहीं की जा सकती, कारण, सारे मानसिक कर्मों के अभाव होने पर यह स्वयं ही आ जाती है। परन्तु इसके आने में सब बाधाओं को हटाने के लिये प्रारंभिक कर्मों की आवश्यकता होती है। इसीप्रकार निर्बीज समाधि के लिये संप्रज्ञात-समाधि एक प्रारंभिक कर्म है। इस शेषोक्त समाधि के अभाव होने पर प्रथमोक्त निर्बीज (असंप्रज्ञात) समाधि आती है। इसीलिये वेदान्त-दर्शन मानता है कि ब्रह्म स्वयं-प्रकाश तथा किसी भी प्रकार के कर्माधीन नहीं है।

टि. सू. ९ (क) संस्कार केवलमात्र विरुद्ध संस्कार को ही उत्पन्न करके नष्ट किया जाता है। गुणों के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण ही व्युत्थान संस्कार वृत्तिज्ञान के स्वभाव वाले नहीं होते। चौथे अध्याय के तीसरे सूत्र में इस संकल्प (अर्थवत्त्व) की प्रकृति (अन्तर्निहित आदि कारण) कहा गया है। इससे भाष्यकार के कथन का यह अर्थ है कि चित्त के व्युत्थान संस्कारों को जड़ावस्था रूप मन की शिथिलता से नष्ट नहीं किया जा सकता, परन्तु निरोध-संस्कार ही व्युत्थान-संस्कार का बाधक होता है।

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा:, न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः । निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्मास्तयोरभिभवप्रादुर्भावौ –व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा हीयन्ते निरोधसंस्कारा आधीयन्ते ।

निरोधक्षणं चित्तमन्वेति तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामस्तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

" निरोध-क्षण चित्त के साथ संबंधित हैं--" कथन का यह अर्थ है कि उस एक ही चित्त के संस्कारों का प्रतिक्षण परिवर्तन होना निरोध परिणाम है । निरोध-समाधि के संबंध में यह वर्णन हो चुका है कि उस समय चित्त संस्कारों के अन्त को प्राप्त होता है (ख) ।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

मूलार्थ— इसका प्रशान्त प्रवाह संस्कार से आता है– १०.

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् । निरोधसंस्कारात् निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति । तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽभिभूयत इति ॥ १० ॥

निरोध-संस्कार के अभ्यास में कुशलता पर आश्रित प्रशांत प्रवाह निरोध-संस्कार से चित्त को प्राप्त होता है । उस संस्कार में थोड़ा सा भी मन्द भाव आने पर निरोध-धर्म वाला संस्कार व्युत्थान-धर्म वाले संस्कार से दब जाता है ।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

मूलार्थ— सर्वमुखी भाव और एकाग्रभाव का यथाक्रम क्षय और उदय चित्त का समाधिपरिणाम है– ११.

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः । सर्वार्थता चित्तधर्मः । एका-

सर्वमुखी भाव चित्त का धर्म है और एकाग्र-भाव भी चित्त का धर्म है । "सर्वमुखी भाव के

(ख) इस सूत्र से ग्रन्थकार विभिन्न शास्त्रों में उपदेशों की भिन्न भिन्न प्रणाली रूप निरोध-परिणाम (लयक्रम) का वर्णन विभिन्न नामों से आरंभ करते हैं । इसलिये हमें ऐसा कोई आधार नहीं मिलता जिससे हम समाधि को चित्त की जड़ावस्था मान सकें । समाधिस्थ होने पर यह चित्त अपने व्यापार में प्रतिक्षण उल्टी गति को अपनाता है अर्थात् क्रमिक क्षणों के साथ यह बहिर्मुखी वृत्तियों को त्यागता हुआ उसी गति के परिमाणानुसार निरोध वृत्ति में प्रवेश करता रहता है । अन्त में निरोध-संस्कारों के बल से सब व्युत्थान संस्कारों को नष्ट करके यह स्वयं भी लय को प्राप्त होता है, जैसे मैलेरिया-विष के साथ ही कुनीन भी नष्ट हो जाती है । यह स्थिति असंप्रज्ञात, निर्बीज अथवा निरोध-समाधि कहलाती है । इसके पश्चात् चित्त वापिस नहीं आता (यो. सू. १।१८, ५१) । वह समाधि ही नहीं जहाँ चित्त में इस-प्रकार का क्रमिक निरोध परिणाम न हो । शास्त्र इससे अन्य प्रकार की समाधि का अनुमोदन नहीं करते ।

ग्रतापि चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः। एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः। तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम्। तदिदं चित्तमपायोपजननयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

क्षय" का अर्थ उस (सर्वमुखी भाव) का अस्त होना है। "एकाग्र भाव के उदय" का अर्थ इसका प्रकट होना है। चित्त इन दोनों के धर्मी होने के भाव को साथ रखता है। यह वही चित्त है जो इसके अपने स्वभाव में स्थित क्षय और उदय रूप दोनों धर्मों से अनुसरण किया हुआ समाधिस्थ होता है। यही चित्त का समाधि परिणाम है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

मूलार्थ— इससे पुनः यथाक्रम तिरोभाव (लय) व आविर्भाव (उदय) अनुरूप आश्रय रखता हुआ चित्त की एकाग्रता का परिणाम होता है- १२.

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः। समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तत्सदृश उदितः। समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवासमाधिभ्रेषादिति। स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

समाधिस्थ चित्त की पूर्वाधीनता तिरोहित होती है और उसी (लय) की तुलना में उत्तराधीनता आविर्भूत होती है। समाधिकाल में चित्त उन दोनों से अनुसरण किया जाता है, यह पुनः उसीप्रकार समाधि की (असंप्रज्ञात नामक) अन्तिम सीमा तक चलता है। यही निःसन्देह धर्मी (क) चित्त की एकाग्रता का परिणाम है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

मूलार्थ- इससे भूत और इन्द्रियों में धर्म, लक्षण तथा अवस्थाओं का परिणाम वर्णित हुआ है-१३.

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः। एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन

धर्म, लक्षण और अवस्था के रूप में पूर्वोक्त चित्तपरिणाम से यह समझना चाहिये कि भूतों

टि. सू. १२ अगले सूत्र को भली प्रकार समझने के लिये यहां मैं कुछ सूचना देता हूं। घड़े के संबंध में मिट्टी 'धर्म' है; इसे दिये हुए आकार को 'लक्षण' कहते हैं; पुरानापन और नयापन इसकी 'अवस्था' है और पृथ्वी परमाणु 'धर्मी' कहलाता है। इसीप्रकार, सृष्टि के संबंध में 'प्रधान' 'धर्मी' है, गुण 'धर्म' और ये गुण परिणाम-क्रम में आकर लक्षण में परिणत होते हैं और फिर लक्षण अवस्था में। अगला सूत्र, दूसरे अध्याय में १९ वें सूत्र के लयपरिणाम का वर्णन है। वहां मन को 'सर्वार्थ' अर्थात् भोग व अपवर्ग रूप अर्थों को पूर्ण करने वाला कहा गया है। वहां के वर्णन में सृष्टिपरिणाम भोगपूर्ति को सूचित करता है, परन्तु यहां चित्त का लयपरिणाम अपवर्ग-प्राप्ति को दिखाता है।

धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः।

और इन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम कहे गये हैं।

तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभावप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामश्च।

वहां, व्युत्थान और निरोध संस्कारों का यथाक्रम लय होना और बढ़ना धर्मी (धर्म को रखने वाला) में धर्म-परिणाम और लक्षणपरिणाम है।

निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः। स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नः। यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिरेषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा, न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां विमुक्तः।

निरोध-संस्कार तीन लक्षणों वाला हो कर तीन पथ से संबंध रखता है। न आये हुए लक्षण वाले प्रथम पथ को त्याग कर धर्मतत्त्व को अतिक्रम न करता हुआ यह (निरोध-संस्कार) निः-संदेह वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है। यहां यह अपने यथार्थ स्वरूप से प्रकट होता है, यह इसका दूसरा पथ है और यह अतीत तथा न आये हुए लक्षणों से शून्य नहीं है (क)।

तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्तमानलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नमेषोऽस्य तृतीयोऽध्वा। न चानागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां विमुक्तम्।

इसीप्रकार, व्युत्थानसंस्कार तीन लक्षणों से युक्त हो कर तीन पथ से संबंध रखता है। वर्तमान लक्षण को त्याग कर और धर्मतत्त्व को अतिक्रम न करता हुआ यह अतीत लक्षण को प्राप्त होता है। यह इसका तीसरा पथ है और यह वर्तमान तथा न आये हुए लक्षणों से शून्य नहीं है।

एवं पुनर्व्युत्थानमुपसंपद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नं यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापार एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न

इसप्रकार, पुनः निरोध-संस्कार व्युत्थान संस्कार में परिवर्तित हो कर न आये हुए लक्षण को छोड़ कर तथा धर्मतत्त्व को अतिक्रम न करता हुआ वर्तमान लक्षण प्राप्त करता है। यहां अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने में ही इस (निरोध-संस्कार) का व्यापार रहता है। यह इसका दूसरा पथ है और यह अतीत तथा न आये हुए लक्षणों से शून्य नहीं है। इसीप्रकार

टि: सू. १३ (क) न आया हुआ प्रथम पथ है, वर्तमान दूसरा और अतीत तीसरा है। चित्त का निरोध-संस्कार सदा 'वर्तमान' के साथ कार्य करता है। इसीप्रकार, व्युत्थान-संस्कार 'अतीत' के साथ अपना व्यापार रखता है, कारण यह प्रतिक्षण अपने वतमान संस्कार को छोड़ता रहता है।

चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां विमुक्तमित्येवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति ।

पुनः निरोध संस्कार आता है और फिर वही व्युत्थान संस्कार में परिणत होता है (ख)।

तथावस्थापरिणामः। निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति। एष धर्माणामवस्थापरिणामः।

इसीप्रकार अवस्था-परिणाम है। निरोध-क्षणों में निरोध-संस्कार बलवान् और व्युत्थान-संस्कार दुर्बल होते हैं। यही धर्मों का अवस्था परिणाम है।

तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां त्र्यध्वनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इत्येवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते। चलं च गुणवृत्तम्। गुणस्वाभाव्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति।

वहां धर्मी का परिणाम धर्मों से होता है, तीन पथ वाले धर्मों का परिणाम लक्षणों से होता है और लक्षणों का भी परिणाम अवस्थाओं से होता है। अतः गुणों का कार्य एक क्षण के लिये भी धर्म, लक्षण और अवस्थाओं के परिणाम बिना नहीं ठहरता। पुनः गुणों का कार्य सदा परिणामशील है, क्योंकि यह कहा गया है कि गुणों के स्वभाव का तत्त्व ही उनकी जागृति का हेतु है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात्त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः। परमार्थतस्त्वेक एव परिणामो धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति। तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न तु द्रव्यान्यथात्वम्। यथा सुवर्णभाजनस्य भित्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति।

इससे भूत और इन्द्रियों में धर्म व धर्मी के भेदानुसार तीन प्रकार का परिणाम जानना है। तो भी, वास्तव में परिणाम केवल एक ही है, कारण धर्म केवलमात्र धर्मी की ही अभिव्यक्ति है। धर्मी का यह विकार धर्म से ही विस्तार को प्राप्त होता है। वहां धर्मी में विद्यमान केवल धर्म की स्थिति का परिवर्तन अतीत, न आया हुआ तथा वर्तमान पथों में होता है; परन्तु 'द्रव्य' का कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ :— जब स्वर्ण का बर्तन तोड़ कर किसी दूसरे आकार में बनाया जाता है, तब यह स्थिति का ही परिवर्तन है परन्तु स्वर्ण का नहीं।

(ख) अनुमान करो कि एक राजमहल के चार क्रमिक द्वार हैं। दूरवर्ती स्थान के संबंध में पहिला दरवाज़ा भीतरी है, परन्तु पहिले दरवाज़े में आने पर यह दूसरे भीतरी दरवाज़े के संबंध में बाहरी हो जाता है। पुनः दूसरा फाटक प्राप्त करने पर यह भी तीसरे के संबंध में बाहरी बन जाता है। इसी प्रकार, 'प्रधान' चार पद वाला है। मन उन सब पदों में से गुज़रता है। उच्चतर पद के संबंध में चित्त का निरोध-संस्कार व्युत्थान बन जाता है। इसी प्रकार, कार्यक्रम के अन्त तक निरोध-संस्कार धीरे धीरे व्युत्थान बनते जाते हैं जब तक कि चित्त अपने अन्तिम निरोध-संस्कार को लेता हुआ 'प्रधान' नामक

अपर आह— धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्। पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येनैव परिवर्तेत यद्यन्वयी स्यादिति।

दूसरे कहते हैं कि धर्मी धर्म से अधिक और कुछ भी नहीं; कारण, धर्म के तत्त्व को (धर्मी) अतिक्रम नहीं करता। यदि यह (धर्मी) आपेक्षिक कारण होता तो पूर्व और उत्तर अवस्थाभेद के पीछे चलता हुआ यह कूटस्थ (अचल) भाव से परिवर्तित होता (ग)।

अयमदोषः। कस्मात्? एकान्ततानभ्युपगमात्तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति।

यह बिना किसी दोष के है। क्यों? कारण, इसमें एक ही भाव नहीं देखा जाता। यह त्रिलोक अपने व्यक्तभाव से अदृश्य हो जाता है, कारण, इसकी नित्यता का निषेध किया गया है। यद्यपि यह अदृश्य हो जाता है तथापि इसकी सत्ता है; कारण, इसके विनाश को अस्वीकार किया गया है। इसकी सूक्ष्मता सम्मिश्रित भाव से आती है और उसी सूक्ष्मता के कारण ही उपलब्धि का अभाव होता है।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामविमुक्तः। तथा वर्तमानो वर्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामविमुक्त इति। तथानागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्त्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामविमुक्त इति। यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति।

लक्षण का परिणाम पथ में स्थित धर्म है। अतीत धर्म अतीत लक्षण से युक्त है तथा न आये हुए और वर्तमान लक्षणों से शून्य नहीं है। इसीप्रकार वर्तमान धर्म वर्तमान लक्षण से युक्त है तथा न आये हुए और अतीत लक्षणों से शून्य नहीं है। उसीप्रकार, न आया हुआ धर्म न आये हुए लक्षण से युक्त है तथा वर्तमान और अतीत लक्षणों से शून्य नहीं है। उदाहरणार्थ:— एक स्त्री में आसक्त पुरुष दूसरी स्त्रियों से विरक्त नहीं होता।

स्वकारण में लय नहीं होता। (ग) यहां भाष्यकार शून्यवाद का खंडन करते हुए अपने आस्तिक वाद अर्थात् प्रधान नामक 'वस्तु' की यथार्थ सत्ता को स्थापित करते हैं। वे अपने विपक्षियों के मतवाद दिखाते हैं कि जैसे स्वर्ण का अपना कूटस्थ भाव है अर्थात् उसके आकार में विभिन्न परिवर्तन होने पर भी वह अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं छोडता, वैसे ही यदि यह सृष्टि किसी नित्य सत्ता का परिणाम होती तो इसका भी कूटस्थ भाव होना चाहिये था। तदनुसार जैसे जगत् प्रत्यक्ष गोचर है वैसे इसका प्रधान नामक कारण भी उसी प्रकार प्रत्यक्ष गोचर होना चाहिये।

अब भाष्यकार इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि जैसे स्वर्ण अपने विभिन्न आकारों को छोड़ कर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित रहता है, वैसे ही यह समग्र जगत् धर्म, लक्षण और अवस्थाओं के भिन्न-भेद को छोड़ कर अपने यथार्थ सूक्ष्म तत्त्व में स्थित होता है। अतः यह प्रत्यक्ष-गोचर नहीं रहता।

अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगाद्ध्वसङ्करः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति।

यहां दूसरे लोग यह विरुद्ध मत उठाते हैं कि लक्षणों के इस परिणाम के विषय में सब लक्षणों के सम्मिश्रण के कारण सब के लिये पथों की गड़बड़ी आ जाती है।

तस्य परिहारः। धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम्। सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो न वर्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम्। एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति। किंच? त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः। क्रमेण तु स्वव्यञ्जनस्य भावो भवेदिति। उक्तं च रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते। सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते तस्मादसङ्करः। यथा रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः किंतु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः।

इसका खंडन इस प्रकार का है:— धर्मों का सारत्व सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। धर्म का सारत्व रहने पर लक्षणों का भेद भी विचारणीय है। इसका सारत्व केवल वर्तमान काल के लिये ही नहीं है। यदि यह ऐसा होता तो क्रोधकाल में आसक्ति का स्वतंत्र कार्य न रहने पर चित्त आसक्ति-धर्म वाला न बन सकता। अधिक और क्या है? एक ही अभिव्यक्ति में ये तीन लक्षण एकसाथ घटित नहीं होते। इसके अभिव्यंजक (प्रकट करने वाला) कारण की अभिव्यक्ति केवल क्रम से ही हो सकती है। पुनः यह कहा जा चुका है कि अतिशय रूप तथा अतिशय कर्म वाले गुण एक दूसरे का विरोध करते हैं। सामान्य गुण अतिशय के साथ उदय होते हैं। इसलिये यहा (पथों में) कोई गड़बड़ी नहीं हैं। उदाहरणार्थ— किसी स्थान में आसक्ति का स्वतन्त्र कार्य रहने पर उस समय अन्यत्र इसका अभाव नहीं होता, परन्तु एकता में आ कर इसकी सत्ता केवल सामान्य भाव से रहती है; इसलिये उस समय वहां इसका अस्तित्व रहता है।

तथा लक्षणस्येति। न धर्मी त्र्यध्वा। धर्मास्तु त्र्यध्वानस्ते लक्षिता अलक्षितास्तत्र लक्षितास्तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैका रेखा

इसीप्रकार, लक्षण के बारे में भी है। धर्मी तीन पथों से युक्त नहीं है। परन्तु धर्म तीन पथों से युक्त हैं, वे दृष्टिगोचर अथवा अदृष्टिगोचर हैं। वहां दृष्टिगोचर धर्म विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं और अवस्था के परिवर्तन से प्रकार भेद द्वारा विशेष रूप में निर्दिष्ट होते हैं, परन्तु 'द्रव्य' के परिवर्तन से नहीं। जैसे अंक १, शत के स्थान में शत, दस के स्थान में दस और एक

शतस्थाने शतं दशस्थाने दश एका चैकस्थाने, यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति ।

के स्थान में एक है, उसी प्रकार एक ही स्त्री व्यक्तित्व में एक होने पर भी भार्या, माता, पुत्री और बहिन आदि कही जाती है।

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः । कथम्? अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वाद्यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदानागतो यदा करोति तदा वर्तमानो यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते ।

अवस्थापरिणाम के विषय पर कोई लोग कूटस्थ भाव के प्रसंग में दोष उठाते हैं। कैसे? कारण यह पर्थों के व्यापार से व्यवहित (रुका हुआ) हो जाता है। यह इस प्रकार है— जब धर्म अपना कार्य नहीं करता तब यह न आया हुआ है, जब यह कार्य करता है तब यह वर्तमान है और कार्य करके निवृत्त होने पर यह अतीत होता है। इसी प्रकार धर्म और धर्मी के लक्षणों तथा अवस्थाओं को कूटस्थ भाव प्राप्त होता है— विपक्षियों द्वारा यही दोष उठाया जाता है।

नासौ दोषः । कस्मात्? गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् । यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनां तस्मिन्विकारसंज्ञेति । तत्रेदमुदाहरणम्, मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकारमिति । घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणमते । घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति । धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था

यह दोष नहीं है। क्यों? कारण, गुणों को रखने वाली ‘वस्तु’ (गुणी) की नित्यता होने पर भी गुणों के परस्पर संबंध सूचक कर्म में विचित्रता है। जैसे अविनाशी गुणों से उत्पन्न केवल शब्दादि रूप आदिधर्म को रखने वाला बाह्यजगत् नाशवान् है, वैसे ही अविनाशी गुणों का केवल सत्त्व आदि रूप आदिधर्म वाला लिंग-मात्र-गुणपर्व विनाशी है। वहां, (आदिधर्म का) नाम “विकार” दिया गया है। इस संबंध में एक दृष्टांत है— मिट्टी धर्मी है, यह पिंडाकार रूप धर्म से धर्मान्तर को प्राप्त होती हुई धर्म के परिवर्तन से घटाकार में परिवर्तित होती है। न आये हुए लक्षणों को त्याग कर घटाकार वर्तमान लक्षण को ग्रहण करता है; इस प्रकार यह (मिट्टी) लक्षण परिवर्तन से दूसरे आकार को प्राप्त होती है। घट प्रतिक्षण नूतनता और प्राचीनता अनुभव करता हुआ अवस्था-परिणाम को प्राप्त होता है। धर्मान्तर परिवर्तन भी धर्मी की अवस्था

धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्य-परिणामो भेदेनोपदर्शित इति ।

एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति । त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रांता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते ।

अथ कोऽयं परिणामोऽवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति ॥ १३ ॥

है । और लक्षणान्तर परिवर्तन भी धर्म की अवस्था है । इसलिये भिन्न-भेद द्वारा एक ही 'द्रव्य' का परिणाम दिखाया जाता है (घ) ।

इस प्रकार इसे दूसरे पदार्थों में भी प्रयोग करना है । ये धर्म, लक्षण और अवस्थाओं के परिणाम हैं जो धर्मी के यथार्थ स्वरूप को अतिक्रम नहीं करते । इसलिये यह एक ही परिणाम है जो उन सारे विशिष्ट (व्यक्त) गुणपर्वों में वहता है ।

अब यह परिणाम क्या है? यह परिणाम "विद्यमान द्रव्य" के पूर्वधर्म की निवृत्ति में धर्मान्तर की उत्पत्ति है ।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

मूलार्थ— धर्मी अतीत, वर्तमान और भविष्य धर्मों के पीछे रहता है— १४.

तत्र शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी । योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः । स च फलप्रसवभेदानुमितसद्भाव एकस्यान्योऽन्यस्या-न्यश्च परिदृष्टः । तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनु-भवन्धर्मो धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्ये-

वहां, धर्मी अतीत, वर्तमान और भविष्य धर्मों के पीछे रहता है । योग्यता से भेद को प्राप्त हो कर धर्म केवल धर्मी की ही शक्ति है । पुन: यह (धर्म) फलप्रसव के भेदानुसार विद्य-मान करके अनुमान किया जाता है जो एक धर्म में एकप्रकार का और अन्य धर्म में अन्य प्रकार का दीख पड़ता है । वहां, वर्तमान धर्म अपने व्यापार को अनुभव करता हुआ अतीत और भविष्य धर्मान्तर से पृथकत्व रखता है । परन्तु

(घ) धर्म को रखने वाली 'वस्तु' को यहा 'धर्मी' कहा गया है । मिट्टी के दृष्टांत से भाष्यकार के कथन का यह अभिप्राय है कि मिट्टी वास्तव में परिवर्तित नहीं होती । केवल धर्म, लक्षण और अवस्था-भेद के कारण ही यह परिवर्तित हुई सी लगती है । इसीप्रकार 'प्रधान' भी वास्तव में परिवर्तित नहीं होता । गुणों के व्यापार नामक इसके धर्म ही केवल विभिन्न लक्षणों में बदल जाते हैं और पुनः लक्षण विभिन्न अवस्थाओं में । अतः समग्र परिणाम को 'प्रधान' नामक एक ही 'वस्तु' का परिवर्तन माना जाता है । पुनः 'द्रव्य' और 'वस्तु' के मध्य वैज्ञानिक भेद को स्मरण रखना है । 'द्रव्य' एक पदार्थ है जो न्यायवैशेषिक के मतानुसार विशेष-गुणपर्व से आरम्भ होता है । लयक्रम में यह शुद्ध तथा वर्धित होता हुआ जब उच्चतर क्रमिक पर्वों से गुजर कर अलिंग अवस्था में पहुंचता है तब यही 'वस्तु' नामधारण करता है । दूसरे शब्दों में एक पदार्थको तबतक 'द्रव्य' कहा जाता है जबतक वह बुद्धि के क्षेत्र में रहता है । परन्तु वही 'द्रव्य' बुद्धि-क्षेत्र के पार जाकर 'वस्तु' नाम से पुकारा जाता है ।

न्यश्च भिद्यते । यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्कोऽसौ केन भिद्येत? तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति ।

जब यह सामान्यभाव से एकता में उपस्थित होता है, तब धर्मी का ही एकमात्र स्वरूप बन कर यह क्या है और किसके द्वारा पृथक् किया जाता है ? वहां जो निःसन्देह धर्मी के धर्म हैं, वे अतीत, वर्तमान और भविष्य की कोटि में आते हैं।

तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः, सव्यापारा उदितास्ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तराः। वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः। किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः? पूर्वपश्चिमताया अभावात्।

वहां, अतीत (धर्म) वे हैं जो कार्य करने के पश्चात् शान्त हो चुके हैं, वर्तमान वे हैं जो अपने व्यापार में लगे हुए हैं। पुनः वे (वर्तमान धर्म) भविष्य लक्षणों के अति समीप हैं और अतीत वर्तमान के। वर्तमान अतीत के आसन्न क्यों नहीं होते? यह केवल अगले-पिछले भाव के अभाव के कारण ही (क)।

यथानागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य। तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः। तस्मादनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्येति।

भविष्य और वर्तमान का जैसे अगला-पिछला संबंध रहता है, वैसे अतीत का नहीं होता। इसलिये अतीत के अति समीप कोई भी नहीं है। तदनुसार भविष्य ही वर्तमान के अति समीप है।

अथाव्यपदेश्याः के? सर्वं सर्वात्मकमिति। यत्रोक्तम्— जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्। तथा स्थावराणां जङ्गमेषु

अब भविष्य (धर्म) कौनसे हैं? सब ही सब के स्वभाव वाले हैं। इस संबंध में यह कहा गया है :— "जल और मिट्टी का परिणाम रूप रसादि का विश्वव्यापी आकार स्थावरों (वृक्ष और पौधे आदि) में देखा जाता है। इसीप्रकार स्थावरों का वह (रसादि आकार) जङ्गमों (चलने वाले प्राणी) में तथा फिर जङ्गमों का स्थावरों में देखा जाता है। अतः जाति के किसी प्रकार भी

टि. सू. १४ (क) अनुमान करो कि निरन्तर घूमनेवाला एक चक्र है। इसके शिखर को निर्णय करने के लिये हमें क्या करना है? हम केवल एक बिन्दु से ही सीमा निश्चित कर सकते हैं जो (चक्र के) न आये हुए भाग को अतीत भाग से पृथक् करता है। तदनुसार बिन्दु का ही अग्र-पश्चात् भाव है।

पुनः, हम सामने के लिये ही सावधान रह सकते हैं, परन्तु पिछले के लिये नहीं। इसीप्रकार कालचक्र के संबंध मे वर्तमान एक बिन्दु अर्थात् एकही क्षण है। भविष्य इसका अग्रभाग और अतीत इसकी पीठ है। इसलिये भविष्य और वर्तमान का अग्र-पश्चात् भाव का संबंध है अर्थात् भविष्य वर्तमान का अगला है और वर्तमान भविष्य का पिछला है। अतीत वर्तमान का पिछला है, परन्तु वर्तमान अतीत का अगला नहीं हो सकता, कारण, अतीत का हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति । देशकालाकारनिमित्तोपबन्धात् न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति ।

व्यक्तिक्रम विना सब ही सब के स्वभाव वाले हैं (ख) "। परंतु वहां देश, काल, आकार और निमित्त (उद्बोधक कारण) के नियम-बन्धन के कारण विभिन्न स्वरूप की अभिव्यक्ति निःसन्देह एक ही काल में नहीं होती ।

य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी ।

व्यक्त और अव्यक्त धर्मों में जो सामान्य और विशेष स्वरूप के पीछे रहता है, वह आपेक्षिक कारण 'धर्मी' है ।

यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः । कस्मादन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत ? तत्स्मृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति । वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते । तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥ १४ ॥

जो मनुष्य यह समझता है कि यह (दृश्य) केवलमात्र धर्म ही है और इसका अपने पूर्ववर्ती कारण से कोई भी संबंध नहीं, (उसके लिये) अवश्य ही भोग का अभाव है । क्यों ? एक चित्त (विज्ञान) द्वारा किये गये कर्म के फलभोक्ता के रूप में दूसरा (विज्ञान) कैसे बाँधा जा सकता है ? इसके अतिरिक्त स्मृति का अभाव आ जाता है, कारण, एक से देखा हुआ विषय दूसरे द्वारा स्मरण नहीं किया जा सकता । पुनः पदार्थों को पहिचानने के कारण धर्मी मूल कारण बन कर विद्यमान है जो धर्मों के परिवर्तन को प्राप्त हुआ करके पहिचाना जाता है । इसलिये यह धर्म स्वयं स्वतन्त्र नहीं है ।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

मूलार्थ— क्रम-परिवर्तन ही परिणाम-परिवर्तन का कारण है— १५.

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः । एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते: क्रमान्यत्वं

"एक ही धर्मी का केवल एक ही परिणाम है" इस सिद्धांत के प्रयोग से क्रम-परिवर्तन ही परिणाम-परिवर्तन का कारण होता है । यह इस प्रकार

(ख) यहां भाष्यकार जगत्सत्ता (प्रधान) का स्वरूप तथा समग्र सृष्टि के परस्पराश्रयत्व का वर्णन करते हैं । "इसका विश्वव्यापी आकार" शब्द "सार्वलौकिक आहार" को सूचित करता है । देश, काल, शरीर तथा निमित्त कारण की व्यवस्थानुसार सब ही सब के लिये आहार और आश्रय हैं । परन्तु उस व्यवस्था को निर्णय करने के लिये क्या उपाय हैं ? एक मात्र वेदशास्त्र ही इस विषय में यथोचित उत्तर दे सकते हैं । वेदशास्त्र की सहायता बिना कोई भी मनुष्य समग्र सृष्टि का पारस्परिक संबंध निर्णय नहीं कर सकता । मनुस्मृति हमारे सब संशयों को मिटा सकती है ।

परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति । तद्यथा चूर्णमृत्पि-ण्डमृद्घटमृत्कणमृदिति च क्रमः ।

है— चूर्ण मिट्टी, पिंड मिट्टी, घट मिट्टी और ठीकरी मिट्टी—यह क्रम है ।

यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः । पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः ।

जो धर्म जिस धर्म की अति सन्निहित परम्परा है, वह उसका क्रम है । पिंड अदृश्य होने पर घट उदय होता है; यही धर्म-परिणाम का क्रम है (क) ।

लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्त-मानभावः क्रमः । तथा पिण्डस्य वर्तमानभावा-दतीतभावः क्रमो नातीतस्यास्ति क्रमः । कस्मा-त्पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वं सा तु नास्त्यती-तस्य तस्माद् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः ।

लक्षण-परिणाम का क्रम न आयी हुई स्थिति से घट की वर्तमान अभिव्यक्ति है । यह क्रम है । इसी प्रकार, पिंड के वर्तमान भाव से अतीत भाव क्रम है । अतीत का कोई क्रम नहीं है । क्यों ? कारण, अति सन्निहित परम्परा का भाव अग्र-पश्चात् भाव के संबंध में ही रहता है, परन्तु अतीत के संबंध में कोई अग्र-पश्चात् भाव का संबंध नहीं होता । इसलिये केवल दो ही लक्षणों का क्रम है ।

तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते । सा च क्षणपरम्परानु-पातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति । धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति ।

अवस्था-परिणाम का क्रम भी इसीप्रकार का है । नवीन घट की पुरातनता इसकी नूतनता के अति समीप देखी जाती है । यह (पुरातनता) क्षण-परम्परा के पीछे आती हुई तथा क्रम द्वारा प्रकाशित होती हुई परम अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है । पुनः यह तीसरा परिणाम धर्म और लक्षणों से पृथक् है ।

त एते क्रमाः धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्ध-स्वरूपाः । धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपा-पेक्षयेति । यदा तु परमार्थतो धर्मिणोऽभेदोप-चारस्तद्द्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वे-नैव क्रमः प्रत्यवभासते ।

धर्म और धर्मी में भेद रहने पर ही ये सब क्रम अभिव्यक्ति को प्राप्त होते हैं । दूसरे धर्म की अभिव्यक्ति से संबंध रखता हुआ धर्म भी धर्मी बन जाता है । जब धर्मी वास्तव में अभेद रूप में प्रयुक्त होता है तथा इसी प्रयोग के बल से वह स्वयं धर्म (ख) कहलाता है, तब ही यह क्रम केवल एकत्व में ही पुनः उदय होता है ।

टि. सू. १५ (क) 'वस्तु' की शक्ति को धर्म माना जाता है तथा धर्म की अभिव्यक्ति ही लक्षण है ।

(ख) यहा भाष्यकार यह कह कर इस विषय को वेदान्तदर्शन पर छोड़ते हैं कि परिणाम क्रम समाप्त होने पर ही धर्मी (प्रधान) केवलमात्र धर्म बन जाता है । यह पहिले ही कहा जा चुका है कि यह केवल मोक्षप्राप्ति के लिये ही लयक्रम का वर्णन है ।

चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च। तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टा वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टास्ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापित-वस्तुमात्रसद्भावाः। "निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्। चेष्टाशक्तिश्च चित्तस्य धर्माः दर्शनवर्जिताः" इति॥

चित्त के दो प्रकार के धर्म हैं— दृष्टिगोचर और अदृष्टिगोचर। वहां वृत्तिज्ञान (प्रत्यय) के स्वभाव वाले (धर्म) दृष्टिगोचर हैं और स्वयं 'वस्तु' के स्वभाव वाले अदृष्टिगोचर। पुनः वे (अदृष्टिगोचर) संख्या में केवल सात हैं और अनुमान से उन्हें स्वयं 'वस्तु' में विद्यमान सिद्ध किया गया है। निरोध, विलक्षणता, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति, — ये चित्त के अदृष्टिगोचर धर्म हैं।

अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते॥१५॥

यहां से योग के सब साधनों से सम्पन्न योगी के इच्छित पदार्थ की प्राप्ति के लिये संयम का विषय दिखाया जा रहा है।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

मूलार्थ— त्रिविध परिणाम पर संयम करने से अतीत और भविष्य का ज्ञान आता है- १६.

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम्। धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तस्तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु सम्पादयति॥ १६ ॥

धर्म, लक्षण और अवस्था के परिणामों पर संयम करने से योगी को अतीत और भविष्य का ज्ञान प्राप्त होता है। यह कहा जा चुका है कि धारणा, ध्यान और समाधि रूप त्रिक ही संयम कहलाता है। इससे त्रिविध परिणाम देखा जाने पर उन्हें (योगियों को) अतीत और भविष्य का ज्ञान आता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७॥

मूलार्थ— शब्द, अर्थ और ज्ञान (अनुमान) का सम्मिश्रण एक दूसरे के साथ रहने के कारण आता है; उनके विभागों पर संयम करने से सब भूत-प्राणियों की भाषा का बोध होता है – १७.

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्। तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती। श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्। पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति।

वहां, वाणी वर्णों में फलवती होती है और श्रोत्र केवल ध्वनि-परिणाम का क्षेत्र रखता है। पद पुनः ध्वनि की परिसमाप्ति पर बुद्धि द्वारा निश्चित किया जाता है। एक ही समय उच्चारित न हो सकने के कारण वर्ण एक दूसरे को सहायता न दे सकने के स्वभाव वाले होते हैं, वे पद को स्पर्श किये बिना तथा इसे (बुद्धि में

वर्णा एकसमयासम्भवित्वात्परनिरनुग्रहात्मानस्ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति । प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते ।

लाये बिना ही उदय होते हैं और लय होते हैं। इसलिये इन्हें पृथक् पृथक् रूप में पद नहीं कहा जा सकता।

वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवापन्नः । पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसङ्केतेनावच्छिन्नाः ।

वर्ण पुनः पृथक् पृथक् रूप में पद के स्वभाव वाले होकर और सब को सूचित करने की शक्ति को प्राप्त हुए एक वर्ण के सहकारी और दूसरे के विरुद्ध होने के कारण विश्वसंबंधीय रूप के तत्त्व को प्राप्त हुए से प्रतीत होते हैं। पूर्व (वर्ण) उत्तर (वर्ण) के साथ और उत्तर पूर्व के साथ एक विशेष व्यवस्था में स्थापित होते हैं। इसप्रकार अपने क्रमानुसार बहु वर्ण लौकिक अर्थ द्वारा सीमित होते हैं।

इयंत एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति । तदेतेषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य सङ्केत्यते । तदेकं पदमेकबुद्धिविषयमेकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रममवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैरुच्चार्यमाणैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते । तस्य

सब को नाम देने की शक्ति से युक्त इतने वर्ण "ग + औ + :" गलझालर वाले पशु (गाय) को सूचित करते हैं। लौकिक अर्थ द्वारा सीमित वर्ण तथा जिनका ध्वनि-क्रम ग्रहण किया गया है, उनका एक ही बौद्धिक प्रतिरूप पद है अर्थात् वाचक वाच्य का संकेत बनता है। वह एक पद एक ही बौद्धिक क्षेत्र वाला है और एक ही प्रयत्न द्वारा प्रकट किया जाता है। यह न अंश है, न क्रम और न ही वर्ण है परन्तु यह बौद्धिक है। यह अन्तिम वर्ण से लिये गये वृत्ति-ज्ञान (प्रत्यय) के व्यापार द्वारा उपस्थापित किया जाता है। यह (पद) सत्य को अन्यत्र स्थापित करने के क्षेत्र वाला है। यह केवल वर्णों की सहायता से नाम पा कर, उच्चारित हो कर तथा सुना जा कर श्रोताओं द्वारा वाक्यव्यहार के अनादि संस्कार से मिली हुई उस जागतिक बुद्धि से निश्चित होता है जो एक समष्टि रूप (शब्द, अर्थ व ज्ञान) में सिद्ध हुई प्रतीत होती है। इसका लौकिक अर्थ बुद्धि से विभाग वाला है। ऐसे ऐसे वर्ण, ऐसी ऐसी जाति के तथा ऐसे ऐसे

सङ्केतः बुद्धितः प्रविभागः । एतावतामेवं जातीयकोऽनुसंहार एतस्यार्थस्य वाचक इति ।

सङ्केतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः । योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः सोऽयं शब्द इत्येवमितरेतराध्यासरूपः संकेतो भवतीति । एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतरध्यासात्सङ्कीर्णाः । तद्यथा गौरितिशब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानं य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित् ।

सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिर्वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति । तथा नह्यसाधना क्रियास्तीति । तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपो नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानामिति ।

दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते जीवति प्राणान्धारयति । तत्र वाक्ये पदपदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रिया-

अन्त वाले होकर इस इस अर्थ (पदार्थ) के वाचक बनते हैं।

संकेत फिर पद और अर्थ के परस्पर वासस्थान के रूप में स्मृति के स्वभाव वाला है। "जो यह शब्द है वह यह अर्थ है और जो यह अर्थ है वह यह शब्द है"— इसप्रकार संकेत उनके परस्पर वासस्थान का आकार धारण करता है। इसीप्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान सम्मिश्रित हैं, कारण एक दूसरे के साथ रहता है। यह इसप्रकार है—— गाय एक शब्द है, गाय एक अर्थ है और गाय एक ज्ञान है। इन विभागों को जानने वाला ही सर्वज्ञ है।

पुनः सब पदों में वाक्य शक्ति विद्यमान है। "वृक्ष" शब्द कहने से "है" क्रियापद भी समझा जाता है। एक विद्यमान पदार्थ अपनी सत्ता को कभी नहीं छोड़ सकता। इसीप्रकार बिना साधन के कोई कर्म नहीं हो सकता। इसलिये "पकाता है" शब्द कहने पर आवश्यकीय द्रव्यों के लिये सब क्रियार्थक कारण भी सूचित किये जाते हैं यथा कर्त्ता, करण और द्रव्य अर्थात् चैत्र (पुरुष), अग्नि और चावल।

वाक्यार्थ के लिये पद-रचना भी देखी जाती है। "वैदिक छात्र वेद मन्त्र पढ़ता है, जीवित रहता है और प्राण-धारण करता है", — इस वाक्य में पद और उनके अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसलिये क्रियावाचक और कारकवाचक रूप पद का विभाजन पृथक् रूप से करना चाहिये। अन्यथा "भवति", "अश्व", "अजापय" आदि (क) पदों के संबंध में संज्ञासूचक और

टि. सू. १७ (क) संज्ञापद के रूप में 'भवति' शब्द "महाशया" को और क्रियापद के रूप में वही शब्द "होना अथवा रहना" को सूचित करता है। इसी प्रकार "अश्व" शब्द घोड़ा (संज्ञा) और तृप्त करना (क्रिया) को तथा "अजापय" शब्द बकरी का दूध (संज्ञा) और पराजित करना (क्रिया) को सूचित करता है।

संस्कृताः । परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्मास्तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः । न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम् ।

आदि कारण (ख)" । वे पूर्वजन्मों द्वारा अचूक रूप से बनाये जाते हैं । वे परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और विलक्षणता की न्याईं चित्त के अदृष्टिगोचर धर्म हैं (यो. सू. ३।१५)। उन पर संयम संस्कारों को साक्षात् कराने में समर्थ होता है । पुनः देश, काल और निमित्त के अनुभव बिना उनका साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः । परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम् । अत्रेदमाख्यानं श्रूयते । भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद्दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत् ।

संस्कारों के इसी साक्षात्कार से योगी में पूर्व जन्मों का ज्ञान उत्पन्न होता हैं । इसप्रकार दूसरों में भी केवल संस्कारों के साक्षात्कार से दूसरों के जन्मों का ज्ञान उत्पन्न होता है । यहां यह कहानी सुनी जाती है :—संस्कारों के साक्षात्कार से भगवान् जैगीषिव्य को 'विवेक' से उत्पन्न ज्ञान प्राप्त हुआ । वे दस महासर्गों में जन्मपरिणाम का क्रम देख रहे थे।

अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच– दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयो किमाधिकमुपलब्धमिति ?

भगवान् आवट्य ने मनुष्य-शरीर धारण करके उनसे कहा — "दस महासर्गों में उपस्थित होने के कारण आप नरक और पशुगर्भ से उत्पन्न दुःख को अपराजित बुद्धिसत्व से पूर्णतया देख रहे थे और देवताओं तथा मनुष्यों में पुनः पुनः उत्पन्न होते हुए अपने सुख और दुःख में से किसे अधिक अनुभव किया ?"

भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच— दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किंचिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि ।

भगवान् जैगीषव्य ने भगवान् आवट्य को उत्तर दिया— "दस महासर्गों में मेरी उपस्थिति के कारण, मैं अपने अपराजित बुद्धिसत्व के बल से नरक और पशुगर्भ से उत्पन्न दुःख को पूर्णतया देख रहा था । देवताओं और मनुष्यों में पुनः पुनः उत्पन्न होकर मैंने जो कुछ भी अनुभव किया उस सब को मैं केवल दुःख ही मानता हूं ।"

(ख) यह प्रारब्धकर्म का द्योतक है ।

भगवानावट्य उवाच— यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च संतोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निःक्षिप्तमिति ?

भगवान् जैगीषव्य उवाच- विषयसुखापेक्षयै-वेदमनुत्तमं संतोषसुखमुक्तम्। कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव।

बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणस्त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति दुःखरूपस्तृष्णातन्तुः तृष्णादुःखसन्तापापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वा-नुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ॥ १८ ॥

भगवान् आवट्य ने कहा — "दीर्घजीवी! आपकी 'प्रधान' पर विजयप्राप्ति और आप के सन्तोष का परम-सुख भी क्या इसी दुःख की कोटि में रखा गया है?"

भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया— "विषय सुख की तुलना में सन्तोषसुख श्रेष्ठतम है, परन्तु कैवल्य से उत्पन्न सुख की तुलना में यह दुःख ही है (ग)"।

बुद्धि सत्व का यह धर्म तीन गुणों वाला है। पुनः जो कुछ भी तीन गुणों पर निर्भर करता है उसे 'हेय' की कोटि में रखा गया है। इसलिये यह कहा गया है— "इच्छारूपी जंजीर साक्षात् दुःख है। इच्छा रूप दुःख से उत्पन्न सन्ताप के छूट जाने से ही यह प्रसन्न, अप्रतिहत तथा सर्वानुकूल सुख उदय होता है"।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

मूलार्थ— प्रत्यय (वृत्तिज्ञान) से दूसरे के चित्त का ज्ञान- १९.

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्। प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम्। न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्। रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति। परचित्तस्य प्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमिति ॥ १९ ॥

प्रत्यय पर संयम करने से तथा प्रत्यय का साक्षात्कार करने से दूसरों के चित्तों का ज्ञान आता है, परन्तु उसके आलंबन (विषय) का नहीं; कारण, यह उसके चित्त का क्षेत्र नहीं है। वह आसक्तिपूर्ण प्रत्यय को जानता है, परन्तु जिस विषय में यह आसक्त है उसे नहीं जानता। परचित्त के प्रत्यय का जो आलंबन (विषय) है उसे योगी का चित्त आलंबन नहीं करता, परन्तु परचित्त का प्रत्यय ही केवल योगी के चित्त के आलंबन में लाया जाता है।

(ग) आओ, इस भाष्य के आधार पर मोक्ष का यथार्थ स्वरूप निर्धारण करें। नाना प्रकार के काल्पनिक सुखपूर्ण अपने अपने कपोल-कल्पित लोकों को सृजते हुए सम्प्रदायी लोगों द्वारा यह मोक्ष कई भ्रमपूर्ण मतवादों में चलाया गया है।

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २० ॥

मूलार्थ— (अपने) शरीर के रूप पर संयम करने से ग्राह्यशक्ति बन्द होने पर तथा चक्षु-ज्योति के साथ संयोग का अभाव होने से अकस्मात् अन्तर्धान आता है- २०.

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् । कायस्य रूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रतिबध्नाति । ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः । एतेनशब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २० ॥

(अपने) शरीर के रूप पर संयम करने से उस रूप की जो ग्राह्य शक्ति है उसे योगी बन्द करता है। ग्राह्य शक्ति स्तम्भित होने पर चक्षु-ज्योति के साथ संयोग का अभाव होने के कारण योगी को अकस्मात् अन्तर्धान आता है। इससे यह समझना है कि शब्दादि का अकस्मात् अन्तर्धान भी कहा गया है।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २१ ॥

मूलार्थ— कर्म शीघ्र फल देने वाला तथा देर से फल देने वाला है, उन पर संयम करने से मृत्यु का ज्ञान आता है या आसन्न विपद्-सूचक लक्षणों से- २१.

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा । आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत्र यथार्द्रं वस्त्रं वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेवं सम्पिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्।

यथा वाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम् । यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम् ।

तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत्संयमादपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम् ।

आयु के विपाक वाला कर्म दो प्रकार का है। एक शीघ्र फल देने वाला तथा दूसरा देर से फल देने वाला है। जैसे गीले कपड़े को फैलाने पर वह थोड़े काल में सूख जाता है, वैसे ही शीघ्र फल देने वाला कर्म है। पुनः वही कपड़ा तह लगा हुआ होने पर जैसे देर से सूखता है, वैसे ही देर से फल देने वाला कर्म है।

अथवा जैसे सूखा घास आग लगने पर तथा चारों ओर से खुली हवा द्वारा प्रज्वलित होने पर थोड़े काल में जल जाता है, वैसे ही शीघ्र फल देने वाला कर्म है। पुनः ढेर में से क्रमपूर्वक रखे गये तिनकों को जलाने में जैसे वही आग देरी लेती है, वैसे ही देर से फल देने वाला कर्म है।

इस प्रकार एक ही जन्म को उत्पन्न करने वाला तथा आयु देने वाला कर्म दो प्रकार का है— शीघ्र फल देने वाला और देर से फल देने वाला। उस पर संयम से मृत्यु अर्थात् जीवन-क्रम के अन्त का ज्ञान आता है।

अरिष्टेभ्यो वेति त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च । तत्राध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति । तथाधिभौतिकं यमपुरुषान्पश्यति पितृनतीतानागतानकस्मात्पश्यति। तथाधिदैविकं स्वर्गमकस्मात्सिद्धान्वा पश्यति। विपरीतं वा सर्वमित्यनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति ॥ २१ ॥

'अथवा आसन्न विपद्-सूचक लक्षणों से—' विपद् के लक्षण तीन प्रकार के हैं— शरीर और चित्त-संबंधीय (आध्यात्मिक), दूसरे प्राणियों द्वारा उत्पन्न (आधिभौतिक) तथा देवताओं से आये हुए (आधिदैविक)। वहां, आध्यात्मिक विपद्-सूचक लक्षणों के संबंध में वह (मनुष्य) कान बन्द करके अपने शरीर में ध्वनि को नहीं सुनता अथवा नेत्र बन्द करके ज्योति को नहीं देखता। इसीप्रकार, आधिभौतिक विपद्-सूचक लक्षणों के संबंध में वह यम के पुरुषों को देखता है और अकस्मात् ही वह अपने मृत पितरों को उपस्थित देखता है। उसी तरह, आधिदैविक विपद्-सूचक लक्षणों के संबंध में वह अकस्मात् स्वर्ग अथवा सिद्धों को देखता है, अथवा वह सब कुछ विपरीत देखता है। इससे भी वह मृत्यु को निकट जानता है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २२ ॥

मूलार्थ— मैत्री आदि पर शक्तियां- २२.

मैत्र्यादिषु बलानि । मैत्रीकरुणामुदितेति तिस्रो भावनास्तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते । दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते। पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते । भावनातः समाधिर्यः स संयमस्ततो बलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते । पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यतो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति ॥ २२ ॥

मैत्री, करुणा और हर्ष— इन तीन शक्तियों को बढ़ाना है। सुखी जीवों के प्रति मित्रभाव बढ़ा कर वह मित्र बल लाभ करता है, दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा बढ़ा कर वह करुणा बल लाभ करता है; और पुण्यवानों के प्रति हर्ष बढ़ा कर वह हर्ष का बल प्राप्त करता है। (इनको) बढ़ाने से जो समाधि आती है, वही संयम है। उससे अनिवार्य बल द्वारा परिपूर्ण शक्तियां उत्पन्न होती है। पापियों के प्रति उदासीनता (लगाव का अभाव) है परन्तु बढ़ाना नहीं। इसकारण उस में कोई समाधि नहीं आती। अतः उस में संयम का अभाव होने से उदासीनता का कोई बल नहीं होता।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २३ ॥

मूलार्थ— बलों पर हस्तिबल आदि- २३.

बलेषु हस्तिबलादीनि । हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति । वैनतेयबले संयमाद्वैनतेयबलो भवति । वायुबले संयमाद्वायुबलो भवतीत्येवमादि ॥ २३ ॥

हाथी के बल पर संयम करने से वह हस्तिबल से युक्त होता है, गरुड़ के बल पर संयम करने से वह गरुड़ बल लाभ करता है; और वायुबल पर संयम करने से वह वायुबल प्राप्त करता है इत्यादि इत्यादि (क) ।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २४ ॥

मूलार्थ— विषयानंद की न्याईं आन्तरिक आलोक के प्रयोग करने से सूक्ष्म, व्यवहित (रोका हुआ) और दूर स्थित का ज्ञान- २४.

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् । ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसस्तस्यां य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वार्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥ २४ ॥

चित्त का ज्योतिर्मय प्रकाश वर्णित हो चुका है (यो. सू. १।३'५) । उस में स्थित आलोक को योगी सूक्ष्म, व्यवहित अथवा दूरस्थित पदार्थों में प्रयोग करके उनका तत्त्व जान जाता है ।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २५ ॥

मूलार्थ— सूर्य पर संयम करने से भुवन का ज्ञान आता है- २५.

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । तत्प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः । मेरुपृष्ठादारभ्य आध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः ।

भुवन का विस्तार सात लोकों वाला है । नरक से लेकर मेरु की पीठ तक भूः लोक है । मेरु की पीठ से लेकर ध्रुव तारा तक ग्रह, नक्षत्र और ताराओं से सुसज्जित अन्तरिक्ष लोक अर्थात् भुवर्लोक है । उससे ऊपर स्वर्लोक पांच प्रकार का है । महेन्द्रलोक तीसरा है; चौथा प्रजापति का महर्लोक है । ब्रह्मलोक तीन प्रकार का है यथा जनलोक, तपलोक और सत्यलोक । " ब्रह्मलोक तीन लोकों वाला है, तत्पश्चात् प्रजापति

टि. सू. २३ (क) यहां कौरव राजा धृतराष्ट्र उदाहरणयोग्य है ।

चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः। तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति। 'ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा' इति संग्रहश्लोकः।

(सृष्टि-कर्त्ता) का महर्लोक आता है; महेन्द्रलोक स्वः कहलाता है और अन्तरिक्ष लोक (आकाश) में तारागण हैं; पृथ्वी (भूर्लोक) पर प्रजा है"— यह संग्रह श्लोक है।

तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः। यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घकालमाक्षिप्य जायन्ते।

नरक में एक दूसरे के ऊपर स्थित छः महान् नरक हैं; मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अंधकार में उनकी यथाक्रम दृढ़ नींव है; ये महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिश्र हैं। अपने कर्मों द्वारा उपार्जित दुःख भोगने वाले प्राणी दुःखपूर्ण दीर्घ आयु को पा कर वहां जन्म लेते हैं।

ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सप्त पातालानि।

उनके नीचे सात पाताल हैं यथा महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल।

भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनस्तस्य रजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि। तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणभागः श्वेतः पूर्वः स्वच्छः पश्चिमः कुरण्टकाभ उत्तरः।

आठवीं यह पृथ्वी है जो सात द्वीपों से युक्त वसुमती नाम वाली है और जिसके मध्य में स्वर्णमय पर्वतराज सुमेरु है; इसके शिखर चांदी, वैदूर्य्य, स्फटिक, स्वर्ण और मणियों के बने हैं। वहां आकाश का दक्षिण भाग विदुर मणि की प्रभा से रञ्जित नीलकमल के पत्ते के सदृश श्यामवर्ण का है, पूर्वभाग सफेद है, पश्चिम स्वच्छ है और उत्तर पीला है।

दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूर्यतोऽयं जम्बूद्वीपस्तस्य सूर्यप्रचाराद्रात्रिदिवं लग्नमिव वर्तते। तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसहस्रायामास्तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसाहस्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति।

पुनः इसके दक्षिण की ओर जम्बु (वृक्ष) है। इसीलिये इसका नाम जम्बुद्वीप है; इसके रात्रि व दिन इस प्रकार रहते हैं जैसे कि सूर्य की गति से बंधे हुए हों। इसके नील व सफेद शिखर वाले तीन उत्तरी पर्वत हैं जिनका विस्तार दो हज़ार योजन है। उनसे घिरे हुए तीन महादेश (वर्ष) हैं जिनमें से प्रत्येक नौ हज़ार योजन का है यथा रमणक, हिरण्मय और उत्तर कुरु।

निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसाहस्रायामास्तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसाहस्राणि हरिवर्षं किंपुरुषं भारतमिति ।

दक्षिण में निषध, हेमकूट और हिमशैल नामक तीन पर्वत हैं जिनमें से प्रत्येक दो हज़ार योजन के विस्तार वाला है । इनके अन्दर नौ नौ हज़ार योजन वाले तीन महादेश हैं यथा हरिवर्ष, किंपुरुष और भारत ।

प्राचीना भद्राश्वमाल्यवत्सीमानः प्रतीचीनाः केतुमालगन्धमादनसीमानः मध्ये वर्षमिलावृतम् ।

पूर्व सीमा भद्राश्व और माल्यवत से घिरी हुई है । पश्चिम सीमा केतुमाल और गन्धमादन से घिरी हुई है । मध्य में इलावृत महादेश है ।

तदेतद्योजनशतसाहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम् । स खल्वयं शतसाहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः ।

यह सब (जम्बुद्वीप) एक सौ हज़ार योजन के विस्तारवाला है । सुमेरु से प्रत्येक दिशा उस विस्तार के आधे से क्रमपूर्वक स्थित है । यही निःसन्देह एक सौ हज़ार योजन वाला जम्बुद्वीप है । यह द्विगुण विस्तार में कंगन के आकार में लवण समुद्र से घिरा हुआ है ।

ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मलगोमेधपुष्करद्वीपाः सप्त समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकसप्तसमुद्रपरिवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसङ्ख्याताः ।

पुनः पूर्ववर्ती से द्विगुण द्विगुण विस्तार वाले शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मल, गोमेध (प्लक्ष) और पुष्कर हैं (क) । और वहां सात समुद्र भी हैं । वे (द्वीप) सरसों के ढेर के सदृश विचित्र तथा सुन्दर पर्वतों से सुसज्जित हैं । वे कंगनाकार में बने हुए सात समुद्रों से घिरे हुए हैं जिनका जल यथाक्रम गन्ने का रस, शराब, माखन, दही, मांड और दूध के स्वाद वाला है । वे प्राकृतिक तथा दिव्य पर्वतों से सुसज्जित हैं । उनका परिमाण पञ्चशत करोड़ योजन है ।

टि. सू २५ (क) उदाहरणार्थ— अनुमान करो कि एक माला रुद्राक्ष के बड़े बड़े दानों से बनी हुई है । यदि एक चिऊँटी दाने के ऊपरी भाग पर चक्कर लगाये तो दिशापरिवर्तन बिना ही यह उसी स्थान में पहुंच जायेगी जहां से इसने चलना आरंभ किया था । यह एक दाने के ऊपरी भाग से दूसरे के ऊपरी भाग पर नहीं पहुंच सकती, परन्तु यदि वह धागे से अर्थात् दानों के बीच में से गुज़रे तो एक दूसरे के पश्चात् वह सब दानों को देख सकती है ।

तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्। अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योत इति।

ये सब इस विश्व के सुप्रतिष्ठित तल पर क्रमपूर्वक स्थित हैं। पुनः आकाश में जुगनु के समान यह विश्व 'प्रधान' के सूक्ष्मतम अणु के आकार वाला है।

तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्वकिन्नरकिंपुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरो ब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति।

वहां पाताल में, समुद्रों में तथा पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कुष्माण्ड और विनायक नामक अर्द्धदेवता वास करते हैं।

सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः। सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः। तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि। सुधर्मा देवसभा। सुदर्शनं पुरम्। वैजयन्तः प्रासादः।

इन सब द्वीपों में पुण्यवान् मनुष्य और देवगण वास करते हैं। सुमेरु देवताओं की उद्यानभूमि है। वहां, मिश्रबन, नन्दन, चैत्ररथ और सुमानस उद्यान हैं। सुधर्मा देवताओं की सभा है, सुदर्शन नगर है और वैजयन्त राजमहल है।

ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धाः। वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः। सुमेरोरुपर्युपरि संनिविष्टाः दिवि विपरिवर्तन्ते।

ग्रह, नक्षत्र और तारागण ध्रुवतारा में निबद्ध हैं। वे वायुबल के नियम से गतिशील देखे जाते हैं (ख)। सुमेरु के ऊपर वे एक दूसरे पर स्थित हो कर आकाश में घूमते हैं।

माहेन्द्रनिवासिनः षडेव देवनिकायाः। त्रिदशा अग्निष्वात्ता यामास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्तिनः परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति। ते सर्वे सङ्कल्पसिद्धाः। अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिचाराः।

महेन्द्रलोक के वासी छः प्रकार के दिव्य प्राणी हैं यथा त्रिदशा, अग्निष्वात्ता, यामा, तुषिता, अपरिनिर्मितवशवर्ती और परिनिर्मितवशवर्ती। वे सब सकल्पसिद्धि तथा अणिमादि ऐश्वर्य से युक्त हैं। ये एक कल्प आयु वाले तथा अति सुन्दर हैं; वे अपने काम्यकर्मों का फल भोगते हैं। उनके शरीर अपने कर्मों से उत्पन्न होते हैं (पितामाता से नहीं)। उत्तम और आज्ञाकारिणी अप्सराओं से वे सेवा लेते हैं।

इसी प्रकार, भूगोलविद् कहता है कि पृथ्वी गोल है। कारण दिशा-परिवर्तन बिना पूर्व से पश्चिम की ओर चक्कर लगाता हुआ मनुष्य उसी स्थान पर पहुंच जाता है जहां से इसने चलना आरंभ किया था। परन्तु दक्षिण से उत्तर की ओर वह ऐसा चक्कर नहीं लगा सकता। यदि वह उत्तरी ध्रुव में से दक्षिण ध्रुव तक गुज़र सके तो तब ही वह इस भाष्य में वर्णित विभिन्न स्वादों वाले छः समुद्रों से घिरे हुए इस भूर्लोक के अन्य छः द्वीपों को देख सकेगा। *(ख) वेदशास्त्रों का कथन है कि वायु संख्या में उञ्चास हैं।

महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधा देवनिकायाः कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभाः इत्येते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः ।

प्रजापति (सृष्टिकर्त्ता) के महर्लोक में पांच प्रकार के दिव्य प्राणी वास करते हैं यथा कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ और प्रचिताभ । इन सबों ने महाभूतों को वश में किया हुआ है। वे ध्यानाहार वाले तथा सहस्रकल्प आयु वाले हैं।

प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति । ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः ।

ब्रह्मा के प्रथम लोक जनलोक में ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर नामक चार प्रकार के दिव्य प्राणी वास करते हैं। ये भूत और इन्द्रियों को वश में किये हुए हैं। इनमें से प्रत्येक वर्ग के प्राणी की आयुः पूर्ववर्ती प्राणी से दुगनी दुगनी है।

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायाः आभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति । ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः ।

ब्रह्मा के दूसरे लोक तपलोक में आभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर नामक तीन प्रकार के दिव्य प्राणी वास करते हैं। उन्हों ने भूत, इन्द्रिय और प्रकृति को वश में किया हुआ है । इनमें से प्रत्येक वर्ग के प्राणी की आयुः पूर्ववर्ती से दुगनी दुगनी है तथा वे सब ध्यानाहार में रहते हैं। वे नित्य ब्रह्मचारी (ऊर्ध्वरेता) हैं। उनका ऊपर के लोकों का ज्ञान बिना अवरोध के है तथा निम्न भूमियों के संबंध में उनका स्वच्छ ज्ञान है ।

तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति । अकृतभवन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः । तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः संज्ञासंज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखास्तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतिष्ठन्ते ।

ब्रह्मा के तीसरे लोक सत्य लोक में अच्युत शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञिन नामक चार प्रकार के दिव्य प्राणी रहते हैं। वे न बने हुए अस्तित्व में रहते हैं और अपने आप में ही प्रतिष्ठित हैं। प्रत्येक वर्ग एक दूसरे के ऊपर स्थित है । उन्हों ने 'प्रधान' को वश में किया हुआ है और वे सृष्टि के अन्त तक आयु वाले हैं। वहां अच्युत सवितर्क-समाधि का आनन्द लेते हैं, शुद्धनिवास सविचार-ध्यान का, सत्याभ एकमात्र आनन्द-ध्यान का और संज्ञासंज्ञिन अस्मितामात्र-ध्यान सुख का आनन्द लेते हैं। वे भी त्रिलोक में ही स्थित हैं ।

त एते सप्तलोकाः सर्वे सब्रह्मकाः । विदेह-प्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते इति न लोकमध्ये न्यस्ताः ।

इत्येतद्योगिना साक्षात्करणीयम् । सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि एवं तावदभ्य-सेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति ॥ २५ ॥

ये सब ब्रह्मलोक सहित सात लोक हैं। विदेह और प्रकृतिलय मोक्षपद में रहते हैं, इसी-कारण उन्हें लोकों में नहीं रखा गया।

अतः योगी इस सब को अवश्य ही साक्षात् करे। सूर्यद्वार पर संयम करके, तत्पश्चात् दूसरे भागों पर भी वह तब तक अभ्यास करे जब तक कि यह सब देखा न जाये।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २६ ॥

मूलार्थ— चन्द्रमा पर ताराव्यूह का ज्ञान– २६.

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् । चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराणां व्यूहं विजानीयात् ॥ २६ ॥

चन्द्र पर संयम करके वह ताराव्यूह का ज्ञान लाभ करे।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २७ ॥

मूलार्थ—ध्रुवतारा पर उनकी गति का ज्ञान– २७.

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् । ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं विजानीयात् । ऊर्ध्वविमानेषु संयमं कृत्वा तानि विजानीयात् ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् ध्रुव तारा पर संयम करके वह ताराओं की गति को जाने। उसके ऊपर के लोकों पर संयम करके वह उन्हें भी जाने।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २८ ॥

मूलार्थ— नाभिचक्र पर शरीर-रचना का ज्ञान–२८.

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् । नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्तश्लेष्मा-णस्त्रयो दोषाः । धातवः सप्त त्वग्लोहितमांस-स्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि । पूर्वं पूर्वमेषां बाह्य-मित्येष विन्यासः ॥ २८ ॥

नाभिचक्र पर संयम करके वह शरीर के रचना-क्रम को जाने। वायु, पित्त और कफ्— ये तीन दोष हैं। धातु सात हैं यथा त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा और शुक्र। यथाक्रम पूर्ववर्ती यथा-क्रम उत्तरवर्तियों से बाह्य हैं। यह उनका विन्यास (रचना) है।

कंठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ २९ ॥

मूलार्थ— कंठकूप पर भूख व प्यास की निवृत्ति- २९.

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। जिह्वाया अधस्तात्तन्तुस्ततोऽधस्तात्कण्ठस्ततोऽधस्तात्कूपस्तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ २९ ॥

जिह्वा से नीचे तन्तु है, उससे नीचे कंठ और उससे भी नीचे कूप है। उस पर संयम करने से (योगी को) भूख और प्यास नहीं सताती।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३० ॥

मूलार्थ— कूर्मनाड़ी पर स्थिरता- ३०

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। कूपादध उरसि कूर्माकारा नाडी तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते। यथा सर्पा गोधा चेति ॥ ३० ॥

कूप से नीचे कछुए के आकार में एक नाड़ी है। उस पर संयम करने वाला सांप व गोधा आदि की न्याईं स्थिरता (ज्ञानशून्य जड़ावस्था) को प्राप्त होता है।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३१ ॥

मूलार्थ— मस्तिष्क की ज्योति पर सिद्धों के दर्शन होते हैं- ३१.

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्। शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र संयमं कृत्वा सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम् ॥ ३१ ॥

खोपड़ी के अन्दर छिद्र में एक उज्वलज्योति है। उस पर संयम करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं जो पृथ्वी और आकाश के मध्य वायु-मंडल में विचरते हैं।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३२ ॥

मूलार्थ— और अपूर्व बुद्धि से उत्पन्न तत्त्व से सब (जाना जाता है)- ३२.

प्रातिभाद्वा सर्वम्। प्रातिभं नाम तारकं तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्। यथोदये प्रभा भास्करस्य तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥ ३२ ॥

अपूर्व-बुद्धि से उत्पन्न तत्त्व ही निःसन्देह तारने वाला है। सूर्योदय के समय प्रभा की न्याईं यह विवेक से उत्पन्न ज्ञान का पूर्व रूप है। और अपनी ही अपूर्व-बुद्धि से उत्पन्न तत्त्व रूप ज्ञान के उदय होने पर इससे योगी अवश्य करके सब जानता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३३ ॥

मूलार्थ— हृदय पर चित्त का ज्ञान- ३३.

हृदये चित्तसंवित् । यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन्संयमाच्चित्त-संवित् ॥ ३३ ॥

विज्ञान उस पोल में रहता है जो इस ब्रह्मपुर में कमल के सदृश एक पवित्र स्थान है। उस पर संयम करने से चित्त का ज्ञान आता है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३४ ॥

मूलार्थ— सत्त्व (बुद्धि) और 'पुरुष' अत्यन्त पृथक् हैं; इन दोनों का अभेद-ज्ञान भोग है, कारण, इसकी (सत्त्व की) सत्ता दूसरे के अर्थ के लिये है; स्वार्थ पर संयम करने से 'पुरुष' का ज्ञान आता है- ३४.

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्। बुद्धि-सत्त्वं प्रख्याशीलम्। समानसत्त्वोपनिबन्धनेर-जस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतम्। तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्त-विधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषस्तयो-रत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य दर्शितविषयत्वात्। स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य, परार्थत्वाद् दृश्यः।

प्रकाश से चमकता हुआ बुद्धिसत्व अपने पर आश्रित रजो और तमोगुण को वश में करता हुआ 'सत्व' और 'पुरुष' के मध्य भेदज्ञान में परिणत हो जाता है। पुनः 'चितिः' का बाह्य रूप 'पुरुष' शुद्ध और उस परिणामी 'सत्व' के अत्यन्त विरुद्ध धर्म वाला है। अत्यन्त भिन्न इन दोनों का अभेद-ज्ञान 'पुरुष' का भोग है, कारण, उसे विषयों को दिखाया जाता है। यह भोग ज्ञान 'सत्व' का है, कारण, दृश्य की सत्ता दूसरे के अर्थ के लिये है।

यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरु-षेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात्पुरुषविषया प्रज्ञा जायते।

दूसरी ओर, जो इस 'सत्व' से पृथक् है और 'चितिः' का ही बाह्य रूप है, वह 'पुरुष' संबंधीय दूसरा ज्ञान है। इस ज्ञान पर संयम करने से 'पुरुष' के क्षेत्र वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते। पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं

पुनः 'पुरुष' उस पुरुष के ज्ञान से नहीं देखा जाता जो (बहिर्मुखी) बुद्धि के ही स्वरूप वाला है। 'पुरुष' स्वयं उस ज्ञान को अपने ही आलंबन में रहता हुआ देखता है। इसलिये यह

पश्यति । यथा ह्युक्तम्— विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥ ३४ ॥

कहा गया है— "अहो! विज्ञाता किससे जाना जाये" ।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३५ ॥

मूलार्थ— उससे (अपूर्व-बुद्धिजन्य तत्त्व से) उच्च श्रवण, उच्च स्पर्श, उच्च दर्शन, उच्च स्वाद और उच्च गन्ध उत्पन्न होते हैं- ३५.

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते । प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम् । श्रावणाद्दिव्यशब्दश्रवणम् वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः । आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित् आस्वादाद्दिव्यरससंवित् । वार्तातो दिव्यगन्धविज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते ॥ ३५ ॥

अपूर्व-बुद्धिजन्य तत्त्व से सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थित, अतीत और भविष्य का ज्ञान आता है। उच्च श्रवण से दिव्य ध्वनि को सुनने की शक्ति आती है; उच्च स्पर्श से दिव्य स्पर्श का लाभ होता है; उच्च दर्शन से दिव्य रूप का बोध होता है; उच्च स्वाद से दिव्य स्वाद का ज्ञान आता है और उच्च गन्ध से दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है । इस प्रकार ये निःसन्देह उत्पन्न होते हैं (क) ।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३६ ॥

मूलार्थ— वे समाधि के लिये विघ्न तथा बहिर्मुखी चित्त की सिद्धियां हैं- ३६.

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः । ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गास्तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात् । व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः ॥ ३६ ॥

वे अर्थात् अपूर्व-बुद्धिजन्य तत्त्व आदि जब समाधिस्थ चित्त में उत्पन्न किये जाते हैं तो वे अपनी विरुद्धता के कारण दर्शनपथ में विघ्न बन जाते हैं । बहिर्मुखी चित्त में उत्पन्न किये जाने से वे सिद्धियां बनते हैं ।

टि. सू. ३५ (क) यहां यह समझना है कि उन यथाक्रम विधियों पर यथाविधि संयम करने से पूर्ववर्णित सिद्धियां आती हैं । परन्तु समाधि से ही ये सिद्धियां निःसन्देह प्रकट होती हैं । इसलिये अगले सूत्र में भाष्यकार हमें सावधान करते हैं कि हम उन सिद्धियों से अभिमानी न बनें तथा नाम व यश कमाने के लिये उनका प्रयोग भी न करें ।

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३७॥

मूलार्थ— बन्धनकारण की शिथिलता से तथा चित्त की गति के पूर्ण ज्ञान से दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति आती है- ३७.

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद् बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः। तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद्भवति। प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव, कर्मबन्धक्षयात्स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निःक्षिपति, निःक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति। यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ति तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति ॥ ३७ ॥

सदा आश्रयहीन चंचल मन का कर्माशयवश शरीर में बन्ध जाना ही उसका स्थापित होना है; यही अभिप्राय है। बन्धन का कारण रूप उस कर्म की शिथिलता समाधि-प्रज्ञा से आती है और चित्त की गति का पूर्ण ज्ञान भी केवल समाधि से ही उत्पन्न होता है। कर्म-बन्धन को क्षय करके तथा अपने चित्त की गति के पूर्ण ज्ञान से योगी अपने शरीर से चित्त को निकाल कर इसे दूसरे के शरीर में डालता है, तत्पश्चात् उस फेंके हुए चित्त के पीछे इन्द्रियां चलती हैं। जैसे मधुमक्खियां अपने राजा के साथ ही उड़ती हैं और उसके साथ ही बैठती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियां भी दूसरे शरीर में चित्त के प्रवेश करने पर उसी के पीछे चलती हैं।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३८ ॥

मूलार्थ— उदान को जीतने से जल, कीचड़, कांटे आदि से असंग तथा उत्क्रांति (शरीर से बाहर जाना)- ३८.

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च। समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं तस्य क्रिया पञ्चतयी। प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः। समं नयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः। अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः।

प्राण आदि की गति के लक्षणों से युक्त सब इन्द्रियों का व्यापार 'जीवन' है। इस (प्राण) का पांच प्रकार का कार्य है— हृदय से उठ कर मुख और नासिका से गुजरने वाली वृत्ति 'प्राण' है। समान भाव से ले जाने वाली क्रिया के कारण नाभिचक्र तक जाने वाली वृत्ति 'समान' है। त्याग क्रिया के कारण पांव के तले तक जाने वाली वृत्ति 'अपान' है। ऊपर की ओर ले जाने वाली क्रिया के कारण शिर तक जाने वाली वृत्ति 'उदान' है और 'व्यान' सारे

उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः व्यापी व्यान इति। एषां प्रधानं प्राणः। उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति तां वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३८ ॥

शरीर में व्याप्त है। 'प्राण' उनमें प्रधान है। 'उदान' को जीतने से जल, कीचड़, कांटे आदि से असंग तथा मृत्युकाल में उत्क्राति आती है। उदान को वश में करने से ही ये प्राप्त होते हैं।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ३९ ॥

मूलार्थ— 'समान' को जीतने पर कांति आता है- ३९.

समानजयाज्ज्वलनम्। जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलयति ॥ ३९ ॥

'समान' को जीतने वाला अपने तेज को प्रज्वलित करके चमकता है।

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४० ॥

मूलार्थ— श्रवणेन्द्रिय तथा आकाश के संबंध पर संयम करने से सुनने की दिव्य शक्ति आती है- ४०.

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्। सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्व शब्दानां च। यथोक्तम्— तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति। तच्च तदाकाशस्य लिङ्गम्। अनावरणं चोक्तम्। तथामूर्तस्याप्यन्यत्रानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य। शब्दग्रहणनिमित्तं श्रोत्रम्। बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम्। श्रोत्राकाशयोः संबन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते ॥ ४० ॥

आकाश सब श्रवणेन्द्रिय तथा सब ध्वनियों की नींव है। ऐसे यह कहा गया है कि— "जिन सब मनुष्यों की श्रवणेन्द्रियां एक ही देश में स्थित हैं उन सब के सुनने का कर्म भी एक ही प्रकार का होता है"। पुनः यह आकाश का चिन्ह है और इसे आवरणहीन कहा गया है। इसीप्रकार, आकाश की सर्वव्यापकता भी स्थापित की गयी है, कारण, आकारहीन पदार्थ की भी आवरणहीनता अन्यत्र देखी जाती है। श्रवणेन्द्रिय ध्वनि ग्रहण करने का यन्त्र है। बहरे और न बहरे,— इन दोनों में से एक ध्वनि को ग्रहण नहीं करता और दूसरा करता है। इस कारण, श्रवणेन्द्रिय ही केवल ध्वनि के क्षेत्र से युक्त है। श्रवणेन्द्रिय और आकाश के संबंध पर संयम करने वाले योगी में सुनने की दिव्य शक्ति जागती है।

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४१ ॥

मूलार्थ— शरीर और आकाश के संबंध पर संयम करने से तथा रुई जैसा हल्कापन प्राप्त करने से आकाश में चलना आता है- ४१.

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् । यत्र कायस्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात्कायस्य तेन संबन्धावाप्तिस्तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्संबन्धं लघुषु तूलादिष्वापरमाणुसमापत्तिं लब्ध्वा जितसंबन्धो लघुर्भवति लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ॥ ४१ ॥

जहां भी शरीर है वहां आकाश है; कारण, यह शरीर को खाली स्थान देता है जिससे संबंध पाया जाता है। उस पर संयम करके उस संबंध को जीतने पर रुई आदि लघु पदार्थों में तथा परमाणु तक रूपान्तर पा कर संबंध को जीतने वाला लघु हो जाता है। उस लघुत्व के कारण वह जल पर पांव से चलता है, तत्पश्चात् मकड़ी जाल के प्रत्येक तन्तु पर चल कर वह किरणों में से गुज़रता है, तदनन्तर अपनी इच्छानुसार वह आकाश में गमन करता है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४२ ॥

मूलार्थ— अकल्पित बहिर्वृत्ति महाविदेहा है, उससे प्रकाश का आवरण नष्ट होता है-४२.

बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः । शरीराद् बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते।

या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता ।

तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहामिति । यया परशरीराण्याविशन्ति

शरीर से बाहर मानसिक वृत्तिलाभ निःसंदेह विदेह स्थिति है। यदि यह स्थिति शरीर में प्रतिष्ठित मन की प्रत्येक बहिर्वृत्ति द्वारा हो तो यह 'कल्पितविदेह' कहलाती है।

दूसरी ओर, यदि शरीर से बाहर निकले हुए मन की बहिर्वृत्ति तथा वृत्ति स्वयं भी शरीर पर निर्भर न करे तो यह निःसन्देह 'अकल्पितविदेह' कहलाती है।

वहां योगी कल्पित-विदेह से अकल्पित-महाविदेह को सिद्ध करता है (क)। इस (महाविदेह) से योगी दूसरों के शरीरों में प्रवेश

टि. सू. ४२ (क) यह 'कल्पित विदेह' वृत्ति संप्रज्ञात-समाधि की करण-ग्राह्य प्रज्ञा है (यो. सू. १।४४)। भाष्य से यह स्पष्ट है कि प्रारंभिक कर्म के अनुष्ठान बिना उच्चतर पद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

योगिनः । ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मविपाकत्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति ॥ ४२ ॥

करता है। पुनः उस स्थिति से प्रकाश स्वभाव वाले बुद्धिसत्त्व के आवरण रूप रजो और तमो गुण में मूल वाले क्लेश, कर्म और त्रिविध विपाक का नाश होता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४३ ॥

मूलार्थ-- स्थूल, प्रकाशमय, सूक्ष्म, परस्पर-संबंधी और संकल्पशील पर संयम करने से भूतों पर विजय प्राप्त होती है- ४३.

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः । तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः । एतद्भूतानां प्रथमं रूपम् ।

द्वितीयं रूपं स्वसामान्यम् मूर्तिर्भूमिः स्नेहो जलं वह्निरुष्णता वायुः प्रणामी सर्वतो गतिराकाश इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते । अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः । तथा चोक्तम्— एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति।

सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यं द्रष्टव्यम् । द्विष्ठो हि समूहः प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः शरीरं वृक्षः, यूथं वनमितिशब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूहः । उभये देवमनुष्याः —

यहां, मिट्टी आदि संबंधीय शब्दादि 'विशेष' अपने परस्पर सहायक धर्म सहित पारिभाषिक शब्दों में 'स्थूल' कहे जाते हैं। यह भूतों का प्रथम रूप है (क)।

दूसरा रूप अपने में सामान्य है। मिट्टी में कठिनता, जल में गीलापन, अग्नि में उष्णता तथा वायु में गति है और आकाश इन सब में व्याप्त है। ये 'प्रकाशमय' शब्द से कहे गये हैं। इस सामान्य के 'विशेष' रूप शब्दादि (इन्द्रिय-विषय) हैं। इसलिये यह भी कहा गया है:— इसप्रकार एक ही जाति से परस्पर संबंध रखने वालों के शुद्ध धर्म में भेद आता है।

यहां सामान्य और विशेष के समुदाय को 'द्रव्य' रूप में जानना चाहिये। समुदाय वास्तव में दो प्रकार का है यथा (१) अनुपस्थित भेद के अवयव से अनुगत वृक्ष अथवा शरीर है, और (२) उपस्थित भेद के अवयव से अनुगत समूह 'झुंड' अथवा 'बन' शब्द से कहा जाता है। "देव और मनुष्य दोनों" को सूचित करने वाले 'समूह'

टि. सू. ४३ (क)- यहां शब्दादि 'विशेष' इन्द्रियों के पंच विषय हैं तथा विशेष-गुणपर्व के अन्तर्गत भौतिक परिणाम हैं। पुनः न्यायवैशेषिक द्वारा इसी विशेषपर्व में 'द्रव्य' को स्थापित किया गया है। भाष्यकार इस सिद्धांत को अपने सिद्धांत का प्राथमिक तत्व मानते हैं।

समूहस्य देवा एव एको भागो मनुष्याः द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः ।

का एक भाग 'देवताओं' का है और दूसरा भाग मनुष्यों का; 'समूह' उन दोनों से सूचित होता है।

स च भेदाभेदविवक्षितः । आम्राणां वनं ब्राह्मणानां सङ्घ इति । आम्रवनं ब्राह्मणसङ्घ इति । स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च। युतसिद्धावयवः समूहो वनं सङ्घ इति । अयुतसिद्धावयवः सङ्घातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति । अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः । एतत्स्वरूपमित्युक्तम् ।

पुन: यह (समूह) भेद अथवा अभेद के साथ कहे जाने का अभिप्राय रखता है जैसे आमों का बन, ब्राह्मणों का संघ या आम्रबन, ब्राह्मणसंघ। फिर यह दो प्रकार का है—पृथक्-सिद्धावयव (पृथक् सिद्धदेह) और अपृथक् सिद्धावयव । पृथक्-सिद्धावयव समूह है जैसे बन, संघ और अपृथक्-सिद्धावयव समष्टि है जैसे शरीर, वृक्ष, परमाणु। पतञ्जलि के मतानुसार 'द्रव्य' अपृथक्-सिद्धावयव से अनुगत समष्टि है। यह 'प्रकाशमय' कहलाता है।

अथ किमेषां सूक्ष्मरूपम्? तन्मात्रं भूतकारणं तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्मा अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राण्येतत्तृतीयम् ।

अब उनका (भूतों का) सूक्ष्म रूप कौन है? यह भूतों का उद्गमस्थल शुद्ध तन्मात्र परमाणु है (ख)। इसका एक अवयव सामान्य और विशेष लक्षणों से युक्त परमाणु है तथा अपृथक्-सिद्धावयव भेद से अनुगत समुदाय है। अतः सब सूक्ष्म तन्मात्रायें इसी तीसरे रूप की हैं।

अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः ।

अब भूतों का चौथा रूप 'परस्पर-संबंधी' शब्द से कहा गया है। यह (चौथा रूप) गुण हैं जो अपने कार्य के स्वभाव के पीछे चलने वाले सतो, रजो और तमो से युक्त हैं।

अथैषां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वं भोगापवर्गार्थता गुणेष्वेवान्वयिनी । गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत् ।

अब उनका पांचवा रूप संकल्पशील है जो भोग और मोक्ष के उद्देश्य वाले गुणों से परस्पर संबंधित है। गुण इन सूक्ष्म तन्मात्राओं, भूतों और भौतिक परिणामों में रहते हैं। इसलिये ये सब संकल्पमय हैं।

(ख) अब भाष्यकार एक ही "परमाणु" (एकजीव) को शुद्ध और उन्नतावस्था वाला 'द्रव्य' कहते हैं। आगे वेदान्तदर्शन में इसी परमाणु को ही 'वस्तु' नाम दिया जायगा जब यह बुद्धि-क्षेत्र के पार चला जायगा।

तेष्विदानीं भूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु रूपे संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति । तत्र पञ्चभूतस्य रूपाणि जित्वा भूतजयी भवति । तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य सङ्कल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥ ४३ ॥

अब उन अपने अपने रूपों वाले पांच भूतों के रूप पर संयम करने से उस उस रूप का स्वरूप दर्शन तथा उन पर विजय पायी जाती है। पंच भूतों के रूपों पर विजय प्राप्त करने से योगी भूतजयी होता है (ग)। उस जय के कारण भौतिक शक्तियां उसकी इच्छा के इस प्रकार अधीन हो जाती हैं जैसे गऊएं अपने बछड़ों के पीछे पीछे चलती हैं।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४४ ॥

मूलार्थ— उससे अणिमादि का उदय, शरीर की सिद्धियां तथा इसके धर्मों का अनवरोध (बिना रुकावट) आता है- ४४.

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च । तत्राणिमा भवत्यणुः । लघिमा लघुर्भवति । महिमा महान्भवति । प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम् । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके । वशित्वं भूतभौतिकेषु वशीभवत्यवश्यश्चान्येषाम् । ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे ।

वहां, 'अणिमा' का यह अर्थ है कि (शरीर) अणु बन जाता है। 'लघिमा' का अर्थ यह है कि (शरीर) लघु बन जाता है। महिमा' का अर्थ है कि (शरीर) महान् हो जाता है। 'प्राप्ति' शब्द यह सूचित करता है कि वह (योगी) अंगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को स्पर्श करता है। "प्राकाम्य" उस अपराजित इच्छाशक्ति का द्योतक है जिससे वह जल की न्याईं पृथ्वी में डूबता है और उठता है। "वशित्व" का अर्थ है कि वह सब भूत तथा भौतिक शक्तियों को वश में कर लेता है और दूसरों के वश में नहीं रहता। "ईशितृत्व" का अभिप्राय यह है कि सृष्टि, प्रलय तथा संस्थापन ये सब उसकी इच्छाधीन होते हैं।

यत्रकामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथा सङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम् । न च

"यत्र कामावसायित्व" सत्य संकल्प को सूचित करता है। जैसी वह इच्छा करता है, भौतिक शक्तियों की स्थिति भी वैसी ही बन जाती

(ग) भूतों के ये पांच रूप गुणों के चार पर्व तथा संकल्प हैं (यो. सू. २।१९)।

शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति। कस्मात्? अन्यस्य यत्रकामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु सङ्कल्पादिति।

है। शक्ति रखता हुआ भी वह पदार्थों को उलट-पुलट नहीं करता। क्यों? कारण, उसका संकल्प सत्य संकल्प को रखने वाले अन्य पूर्व-सिद्ध के संकल्प के साथ एक हो जाता है (क)।

एतान्यष्टावैश्वर्याणि। कायसम्पद्वक्ष्यमाणा तद्धर्मानभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुविशतीति। नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति। नाग्निरुष्णो दहति। न वायुः प्रणामी वहत्यनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति॥४४॥

ये आठ शक्तियां हैं। शरीर-सिद्धि का वर्णन किया जा रहा है। "तथा इसके धर्मों के अनवरोध" का यह अर्थ है कि पृथ्वी अपनी कठिनता से योगी की शारीरिक क्रिया में रुकावट नहीं डालती, वह पत्थर में से भी गुजर सकता है। स्निग्ध जल उसे भिगो नहीं सकता। जलती हुई अग्नि उसे जला नहीं सकती। प्रचंड वायु उसे उड़ा नहीं सकती। आवरणहीन आकाश में उसका शरीर छिपा हुआ रहता है और सिद्धों से भी वह अदृश्य रहता है।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥ ४५॥

मूलार्थ— रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान कठिनता,— ये शरीर की सिद्धियां हैं-४५.

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्। दर्शनीयः कान्तिमानतिशयबलो वज्रसंहननश्चेति॥ ४५॥

उसका शरीर दर्शनीय, कान्तिमान्, अतिशय बलवान् और वज्र-समान कठिन होता है।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥ ४६॥

मूलार्थ-- ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्योन्य संबंध और संकल्प पर संयम करने से इन्द्रिय-जय आती है- ४६.

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः। सामान्यविशेषात्मा शब्दादिर्विषयः। तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम्। न च तत्सामान्य-

सामान्य और विशेष लक्षणों वाले ध्वनि आदि विषय हैं। उनमें इन्द्रियों की वृत्ति 'ग्रहण' है। पुनः यह वृत्ति केवल सामान्य लक्षण को ही ग्रहण करने का आकार नहीं है। यदि उस

टि. सू. ४४ (क) यह 'पूर्वसिद्ध' वेदान्तदर्शन का ईश्वर (एकजीव अर्थात् सक्रिय सृष्टिकर्त्ता) है (यो. सू. ४।४)

मात्रग्रहणाकारं कथमनालोचितः स विषयविशेष इन्द्रियेण मनसा वानुव्यवसीयेतेति ?

स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम् ।

तेषां तृतीयं रूपमस्मिता लक्षणोऽहङ्कारः तस्य सामान्य इन्द्रियाणि विशेषाः ।

चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहङ्काराणि परिणामः ।

पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वमिति।

पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमस्तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चस्वरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः ॥ ४६ ॥

विशेष लक्षण को भी न लिया जाये तो यह मन तथा इन्द्रियों द्वारा कैसे निर्धारित किया जायेगा?

पुनः 'स्वरूप' इन्द्रिय अथवा 'द्रव्य' है जो प्रकाशमान बुद्धिसत्त्व के सामान्य और विशेष लक्षणों का अपृथक्-सिद्धावयव-भेद के अनुगत समूह है ।

वहां (इन्द्रियों का) तीसरा रूप (शुद्ध) अस्मिता है । अहंकार के आकार में इसका लक्षण इसका सामान्य रूप है और इन्द्रियां इसका विशेष रूप हैं ।

चौथा रूप सत्व, रज और तम से युक्त व्यवस्थापक गुण हैं जिनका परिणाम अहंकार सहित इन्द्रियां हैं ।

पांचवां रूप गुणों में अन्तर्गत 'पुरुषार्थ' के लिये "संकल्प" है ।

इन्द्रियों के इन पांच रूपों पर यथाक्रम संयम करना होगा । उन क्रमिक रूपों (क) पर विजय प्राप्त करने से तथा इन पांच स्वरूपों की जय से योगी को इन्द्रिय-जय आती है ।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४७ ॥

मूलार्थ— उससे मन जैसी-गति, करणशून्य स्थिति और 'प्रधान' पर वश्यता आती है-४७.

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च । कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम् । विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतकालदेशविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः । सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इत्येतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते । एताश्च करणपञ्चकस्वरूपजयादधिगम्यते ॥ ४७ ॥

मन-जैसी-गति शरीर की उच्चतम गति की प्राप्ति है । शरीर के साथ संयोग बिना (योगी के) इच्छित देश व काल के क्षेत्र संबंधीय इन्द्रियों का वृत्तिलाभ करणशून्य स्थिति है । प्रकृति के सब विकारों पर विजय प्राप्ति ही 'प्रधान' पर वश्यता है । ये तीन सिद्धियां मधुप्रतीक कहलाती हैं । पुनः ये पांच इन्द्रियों (करण) पर विजय-प्राप्ति से आती हैं ।

टि. सू. ४६ (क) इन्द्रियों के इन पांच रूपों को गुणों के चार पर्व तथा संकल्प समझना होगा (यो.सू.२।१९) ।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४८ ॥

मूलार्थ-- सत्त्व और 'पुरुष' के मध्य भेद के शुद्ध प्रकाशन से युक्त योगी सब स्थितियों पर अध्यक्षता और सर्वज्ञता प्राप्त करता है- ४८.

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः।

सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः। इत्येषा विशोकानाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति ॥ ४८ ॥

रजो और तमोगुण की मल से युक्त बुद्धिसत्त्व की परम स्वच्छता पर जो योगी वश करने वाले परम मनोबल में स्थित है तथा 'सत्त्व' और 'पुरुष' के मध्य भेद के शुद्ध प्रकाशन में प्रतिष्ठित है, वही सब स्थितियों पर अध्यक्षता प्राप्त करता है। अर्थ यह है कि कारण और कार्य के स्वरूप वाले तथा सब कुछ निर्माण करने वाले गुण समग्र दृश्य के व्यक्तित्व सहित स्वामी क्षेत्रज्ञ (क) के सम्मुख उपस्थित होते हैं।

'सर्वज्ञता' विवेकजन्य ज्ञान है जो अतीत, वर्तमान और भविष्य धर्मों के व्यापार सहित व्यवस्थित सर्वनिर्माणकर्त्ता गुणों के क्रम बिना स्थित है, यही अभिप्राय है। यह सिद्धि निःसन्देह 'विशोका' नाम वाली है जिसे प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ तथा क्लेशबन्धन से मुक्त होकर अध्यक्ष के रूप में फिरता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ४९ ॥

मूलार्थ-- उस पर भी वैराग्य से दोषबीज के क्षय होने पर कैवल्य (आता है-)- ४९.

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः सत्त्वं च हेयपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्त्वादित्येवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि दोषबीजानि दग्धशालि-

जब योगी को ऐसा होता है कि क्लेश और कर्म के क्षय पर 'सत्त्व' का यह विवेक-ज्ञान वाला धर्म तथा 'सत्त्व' स्वयं भी 'हेय' के पक्ष में रखा जाता है एवं 'पुरुष' को अपरिणामी, शुद्ध तथा 'सत्त्व' से भिन्न प्रत्यक्ष किया जाता है, तब जो (योगी) इस (प्रज्ञादृष्टि) से भी वैराग्यवान् है, (उसके) दोषवीज धान के भुंजे हुए बीजों के सदृश उत्पादन शक्ति से

टि. सू. ४८ (क) गीता के १३ वें अध्याय में 'क्षेत्रज्ञ' शब्द की व्याख्या पूर्ण रूप से हो चुकी है।

बीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति । तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते । तदेतेषां गुणानां मनसि कर्म-क्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानाम-प्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥ ४९ ॥

शून्य हो जाते हैं तथा मन सहित नाश को प्राप्त होते हैं। उनके क्षय होने पर "पुरुष' इस त्रिताप से फिर और दुःखित नहीं होता। तब जिन गुणों ने (पहिले) क्लेश, कर्म और विपाक के स्वरूप सहित मन में अभिव्यक्त होकर अपने कर्त्तव्यों को संपादन कर लिया है उनकी उत्पादन-शक्ति के अभाव होने पर उन गुणों से 'पुरुष' का सर्वथा वियोग "कैवल्य" है। तब 'पुरुष' केवल अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित 'चितिः' रूप शक्ति (क) हो जाता है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५० ॥

मूलार्थ— आभ्यन्तरिक अधिकारी पुरुषों के निमन्त्रण पर संग और अहंकार न करना; कारण अनिष्ट के साथ पुनः संयोग की संभावना रहती है– ५०.

स्थान्युपनिमंत्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् । चत्वारः खल्वमी योगिनः प्रथम-कल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्त-भावनीयश्चेति । तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः । ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी तृतीयः, सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कृतकर्तव्यः साधनादिमान् । चतुर्थस्त्वतिक्रान्त-भावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः सप्तविधा अस्य प्रान्तभूमिप्रज्ञाः ।

ये निःसन्देह चार योगी हैं यथा (१) प्रथमकल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञा-ज्योति और (४) अतिक्रान्तभावनीय। वहां, प्रथम योगी अभ्यासी तथा अभी ही उदय हुई ज्योति से युक्त है। दूसरा सत्यपूर्ण प्रज्ञादृष्टि से सम्पन्न है। भूत और इन्द्रियजयी तीसरा है जो सब कुछ उपार्जित तथा उपार्जनीय की रक्षा के लिये सदा सावधान रहता है, जो अपने कर्त्तव्य संपादन कर चुका है तथा साधनाभ्यास में निरन्तर प्रयत्नशील है। चौथा अतिक्रान्तभावनीय है जिसका एकमात्र लक्ष्य चित्त को (ब्रह्म में) लय करना है। उसकी अन्तिम भूमि वाली प्रज्ञा-दृष्टि सात प्रकार की है (यो. सू. २।२७)।

टि. सू. ४९ (क) वेदान्तदर्शन में इस 'चितिः' नामक शक्ति को 'माया' (आत्मख्यापन करने वाली शक्ति) के नाम से कहा जायेगा और शुद्ध तत्त्व 'वस्तु' नामक 'चित्' की उपाधि माना जायेगा।

टि. सू. ५० (१-४) संप्रज्ञात-समाधि-प्रज्ञा के ये चार क्रमिक पद हैं।

तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वविशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते — भो इहास्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षय उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः स्वगुणैस्सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरं स्थानं देवानां प्रियमिति।

यहां, मधुमती भूमि को देखने वाले ब्राह्मण (योगी) का शुद्ध अन्तःकरण देखकर आभ्यन्तरिक अधिकारी पुरुष अर्थात् देवगण उसे सब स्थानों से (इस प्रकार के) निमन्त्रण देते हैं — " आइये, यहां बैठिए, विश्राम लीजिये, यह भोग रमणीय है, यह कन्या चित्ताकर्षक है, यह रसायन जरा-मृत्यु को रोकता है। यह विमान हवा में उड़ता है, ये कल्प-वृक्ष हैं, यह मन्दाकिनी नामक पवित्र नदी है; ये सिद्ध महर्षि, सुन्दर आज्ञाकारिणी अप्सरायें हैं, देखने और सुनने की दिव्य शक्ति तथा वज्रसम शरीर हैं। हे चिरंजीव! ये सब आपके अपने ही सद्गुणों से उपार्जित हैं। देवताओं के प्रिय इस अक्षय, अजर और अमर स्थान को भोगिए "।

एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान्भावयेत् — घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्त्तमानेन कथंचिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशीयोगप्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्।

इस प्रकार संबोधित हो कर योगी संगदोष को ध्यान में लाये— " सांसारिक घोर अग्नि में जलते हुए तथा जन्म-मृत्यु के अन्धकार में घूमते हुए मैंने किसी प्रकार क्लेश रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाली योगज्योति को प्राप्त किया है। पुनः तृष्णा से उत्पन्न होने वाली विषय-वायु इसकी शत्रु है। ज्योति को प्राप्त करके मैं कैसे इस विषयरूप मृग-तृष्णा के धोखे में आऊं? उसी प्रज्वलित संसाराग्नि में मैं अपने आप को कैसे इन्धन बनाऊं? नमस्कार, रे स्वप्न सम विषयो! तुम मूर्ख लोगों से ही मांगे जा सकते हो "। इसप्रकार दृढ़ निश्चय वाला योगी समाधि को उत्पन्न करे।

सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितंमन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति। तथाचास्य छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं

संग में न आकर वह गर्व भी न करे— " ओह! मैं क्या बन गया कि देवगण भी मेरी विनती करते हैं "। यदि वह अहंकार से आनन्द की मिथ्या धारणा ग्रहण करे तो वह यह नहीं समझ सकेगा कि वह मृत्यु द्वारा केशों से पकड़ा हुआ है। इसी प्रकार सदा छिद्र ढूंढने वाला तथा

यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धाविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः । एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढीभविष्यति भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति ॥ ५० ॥

निरन्तर प्रयत्नशील प्रमाद (उल्टी बुद्धि) उसका (योगी का) छिद्र पा कर क्लेशों को ऊपर उठायेगा । इससे अनिष्ट के साथ पुनः संयोग की सम्भावना है । इस प्रकार संग और अहंकार न करने वाले योगी का उपार्जित सद्-गुण दृढ़ होगा तथा उपार्जनीय सद्गुण निकट आयेगा (क) ।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५१ ॥

मूलार्थ-- क्षण और इसके क्रम पर संयम करने से विवेकजन्य ज्ञान आता है- ५१.

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् । यथा अपकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणो यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसम्पद्येत स कालः क्षणः तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः । क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तु समाहार इति । बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः । स खल्वयं कालो वस्तु शून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती । लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते ।

न्यूनता की अन्तिम सीमा में पहुंचा हुआ ' द्रव्य ' जैसे परमाणु है वैसे ही ' काल ' अपनी न्यूनता की चरम सीमा में पहुंचकर क्षण है । अथवा एक गतिशील परमाणु जितने समय में अपने पूर्व स्थान को छोड़ कर उत्तर स्थान को प्राप्त करता है, वही काल क्षण है । प्रवाह का अविच्छेद क्रम है । क्षण और क्रम का वस्तु की न्याईं कोई एकत्रित भाव नहीं है; यह केवल बुद्धिकृत समष्टि है जैसे मुहुर्त (४८ मिनट), दिन, रात्रि आदि । वास्तव में यही काल है जो वस्तुशून्य होने पर भी शब्दज्ञानानुसार बुद्धि की सृष्टि है । बहिर्मुखी दृष्टि वाले सांसारिक लोग इसे ' वस्तु ' का स्वरूप देखते हैं ।

क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी । क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः ।

तत्त्व के अधीन हो कर क्षण क्रम के आधार पर रहता है । पुनः क्रम क्षणों के व्यवधान (मध्यवर्ती स्थान) से युक्त है । काल को जानने वाले योगी इस (क्रम) को काल के नाम से पुकारते हैं ।

टि. सू. ५० (क) इस प्रमाण के आधार पर आओ विचारें कि आजकल इन प्रलोभनों में न आने वाले कितने मुक्तात्मा हैं । विज्ञापनों के बल पर सरल स्वभाव वाले प्राणियों से श्रद्धा और सम्मान खींचने वाले उन्नतस्थिति युक्त माने हुए लोगों में से क्या एक भी ऐसा मुक्तात्मा मिलता है ?

न च द्वौ क्षणौ सह भवतः । क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोरसंभवात्पूर्वस्मादुत्तरस्य भाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमस्तस्माद्वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति तस्मान्नास्ति तत्समाहारः ।

पुनः दो क्षण कभी भी एक साथ नहीं रह सकते और क्रम भी एकसाथ रहने वाले दो क्षणों में नहीं आ सकता, कारण, यह असंभव है। पूर्ववर्ती क्षण के पश्चात् आने वाले उत्तरवर्ती क्षण का जो व्यवधान है, वह क्रम है । इस-कारण, वर्तमान केवल एक ही क्षण है। पूर्व-वर्ती और उत्तरवर्ती क्षण नहीं रहते। तदनुसार, उनका एकत्रित भाव नहीं है।

ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयास्तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी सर्वे धर्मास्तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणं ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति ॥ ५१ ॥

दूसरी ओर, अतीत और भविष्य जो क्षण हैं, उन्हें परिणाम के साथ संबंधित कहना होगा। उसी एक ही क्षण से समग्र जगत् परिणाम को प्राप्त होता है; सब धर्म वास्तव में उसी एक ही क्षण में आरूढ हैं। क्षण और इसके क्रम पर संयम करने से उनका साक्षात्कार होता है और उससे विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५२ ॥

मूलार्थ— जाति, लक्षण और देश से दो समान द्रव्यों में भेद के अपृथकत्त्व के कारण जब वे पृथक् नहीं किये जा सकते, तब उससे उनका साक्षात् ज्ञान आता है– ५२.

तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते । जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः । तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यतायां हेतुः । गौरियं वडवेयमिति ।

उस (विवेकजन्य ज्ञान) के विशिष्ट क्षेत्र का वर्णन होता है :— जाति, लक्षण और देश से दो समान द्रव्यों में भेद के अपृथकत्व के कारण जब वे पृथक् नहीं किये जा सकते, तब उससे उनका साक्षात् ज्ञान आता है। दो समान द्रव्यों के देश और लक्षणों की समानता में जातिभेद ही उनके पृथकत्व का कारण है यथा यह गाय है, यह घोड़ी है इत्यादि।

तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरं कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति । द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद् देशभेदोऽन्यत्वकर इदं पूर्वमिदमुत्तरमिति ।

समान देश और जाति की समानता में लक्षण उनके भेद का कारण होता है यथा काली आंखों वाली गाय तथा माथे पर सफेद चिन्ह वाली गाय। दो आमलक फलों के लक्षण और जाति में समानता होने पर देश-भेद ही उन्हें पृथक् करने का कारण होता है यथा यह पहिला है और यह पिछला है ।

यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरे देश उपावर्तते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः । असन्दिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तम्— ततः प्रतिपत्तिर्विवेकजज्ञानादिति । कथं ? पूर्वामलकसहक्षणदेश उत्तरामलकसहक्षणाद् देशाद्भिन्नः ।

जब अन्यत्र ध्यान जाने पर जानने वाले का पहिला आमलक फल पिछले फल के देश में रखा जाता है, तब देश की समानता से उन्हें पृथक् करने में असफलता आती है जैसे " यह पहिला है और यह पिछला " । पुनः असंदिग्ध तत्त्वज्ञान द्वारा ही यह संभव हो सकता है । अतः यह कहा गया है :– " उससे अर्थात् विवेकजन्य ज्ञान से साक्षात् ज्ञान आता है " । कैसे ? पहिले आमलकफल से संबंधित क्षण का देश पिछले आमलकफल से संबंधित क्षण के देश से भिन्न है ।

ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति । एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशात्तद्देशानुपपत्तावुत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः सहक्षणभेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययो भवतीति ।

पुनः इन दो आमलक फलों को उनके यथाक्रम देशसंबंधित क्षणों के अनुभव से पृथक् किया जाता है । विभिन्न देश संबंधीय क्षण का अनुभव निःसन्देह उनके पृथकत्व का कारण होता है । इस दृष्टांत से समान जाति, लक्षण व देश से युक्त परमाणुओं के संबंध में पूर्व परमाणु के देश से संबंधित क्षण को साक्षात् करने से पिछले परमाणु के यथाक्रम देश का साक्षात् ज्ञान होने पर परस्पर संबंधित क्षणभेद के कारण पिछले (परमाणु) के देश का अनुभव (पूर्ववर्ती परमाणु से) भिन्न है । इन दोनों (क्षण और देश) पर विजय प्राप्त करने वाले योगी को ही इस पृथकत्व का ज्ञान होता है ।

अपरे तु वर्णयन्ति– येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति । तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिव्यवधिजातिभेदश्चान्यत्वे हेतुः । क्षणभेदस्तु

दूसरे कहते हैं कि जो अन्तिम विशेषतायें (विशेष-गुण पर्व में) हैं, वेही पृथकत्व के ज्ञान को उत्पन्न करती हैं (क) । वहां देश और लक्षण के भेद तथा मूर्ति, व्यवधान (मध्यवर्ती स्थान) एवं जाति के भेद भी पृथकत्व के कारण

टि. सू. ५२ (क) यह वैशेषिक का ' विशेष ' है । भाष्य से यह स्पष्ट है कि भाष्यकार इस सिद्धांत का खंडन नहीं करते, परन्तु इसे प्रारंभिक पद के रूप में स्वीकार करते हुए इससे उच्चतर पद दिखाते हैं । अतः यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि न्याय-वैशेषिक पर आधार रखता हुआ सांख्य-योग पूर्णता

योगिबुद्धिगम्य एवेत्यत उक्तं मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः ॥ ५२ ॥

होते हैं। परन्तु क्षण का भेद केवल योगी की बुद्धि से ही ग्रहण किया जा सकता है। अतः वार्षगण्य (महर्षि) द्वारा यह कहा गया है कि मूर्ति, व्यवधान तथा जाति में भेद के अभाव पर मूल में कोई पृथकत्व नहीं है (ख)।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजज्ञानम् ॥ ५३ ॥

मूलार्थ— विवेकजन्य ज्ञान तारने वाला, सब विषयों के क्षेत्र वाला, सब अवस्थाओं के क्षेत्र वाला तथा क्रम को न रखने वाला है- ५३.

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजज्ञानम्। तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः।

"तारने वाला" शब्द का यह अर्थ है कि यह (विवेकजन्य ज्ञान) अपनी ही अपूर्व-बुद्धि से जागता है, परन्तु उपदेश से उत्पन्न नहीं होता। (क)

सर्वविषयत्वान्नास्य किंचिदविषयीभूतमित्यर्थः।

"सब विषयों के क्षेत्र वाला" यह सूचित करता है कि ऐसा कुछ भी नहीं जो इसके क्षेत्र के अन्तर्गत न हो।

सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं पर्यायैः सर्वथा जानातीत्यर्थः।

"सब अवस्थाओं के क्षेत्र वाला" का अभिप्राय यह है कि यह सब क्रम तथा सब अवस्थाओं सहित भूत, भविष्य और वर्तमान को जानता है।

अक्रममित्येकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः।

"क्रम को न रखने वाला" का तात्पर्य यह है कि यह सब को एक ही क्षण में आरूढ़ देखता हुआ सब प्रकार से ग्रहण करता है।

एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णमस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ॥ ५३ ॥

यह विवेकजन्य ज्ञान परिपूर्ण समष्टि है; मधुमती भूमि से ले कर इसकी परिसमाप्ति तक योग-ज्योति इसका अंश मात्र है।

की ओर बढ़ रहा है। (ख) यहां महर्षि वार्षगण्य के प्रमाण पर भाष्यकार परमतत्त्व को, एक ही व्यापक 'भूमा' के रूप में सूचित करते हैं।

टि. सू. ५३ (क) भाष्य में 'तारक' शब्द से यह स्पष्ट है कि दूसरों के उदाहरण तथा उपदेशों के आंखें बन्द करके अनुसरण करने से मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती, परन्तु इसे व्यक्तिगत चेष्टा, अजेय दीर्घ उद्योग तथा योगाभ्यास के निरन्तर प्रयोग से ही प्रा करना होगा।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५४ ॥

मूलार्थ— ' सत्त्व ' और ' पुरुष ' की शुद्धि के एकत्व में कैवल्य (आता है)- ५४.

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति । यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रतीतिमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति । तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिस्तस्यामवस्थायां कैवल्यं भवति । ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा । नहि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तं परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते ।

विवेकजन्य-ज्ञान-प्राप्त या विवेकजन्य-ज्ञान अप्राप्त योगी के संबंध में कैवल्य ' सत्त्व ' और ' पुरुष ' की शुद्धि के एकत्व में आता है । रजो और तमोगुण की मल से मुक्त हुआ तथा ' पुरुष ' के पृथकत्व संबंधीय साक्षात् ज्ञान के एकमात्र कर्त्तव्य से युक्त हुआ बुद्धि-सत्त्व जब दग्ध हुए क्लेश-बीजों की अवस्था को प्राप्त होता है, तब ही यह ' पुरुष ' की शुद्धि के एकत्व में आया हुआ प्रतीत होता है । उस काल में ' पुरुष ' पर आरोप किया हुआ भोग का अभाव ही ' पुरुष ' की शुद्धि है । इस अवस्था में योगी को कैवल्य आता है चाहे वह सिद्धियों से युक्त हो या न हो। अथवा (दूसरे शब्दों में) चाहे वह विवेकजन्य ज्ञान वाला हो या न हो, कारण, जिस योगी के क्लेश-बीज दग्ध हो चुके हैं, वह ज्ञान पर पुनः निर्भर नहीं करता । समाधि से उत्पन्न ऐश्वर्य और ज्ञान की व्याख्या बुद्धिसत्त्व की शुद्धि के अनुसार ही की गई है। वास्तव में ज्ञान (क) के उदय होने पर अदर्शन (अविद्या) का अभाव हो जाता है ।

तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावश्चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य दृश्यत्वेन पुनरुपतिष्ठन्ते तत्पुरुषस्य कैवल्यं तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति ॥ ५४ ॥

उसकी निवृत्ति पर और कोई क्लेश नहीं रहते। क्लेशों के अभाव से कर्म और विपाक का अभाव आता है। उस अवस्था में कर्त्तव्यों से मुक्त हुए गुण दृश्य के भाव में ' पुरुष ' के सम्मुख प्रकट नहीं होते । यही ' पुरुष ' का कैवल्य है । उस समय 'पुरुष' शुद्ध हो कर केवल अपनी ही स्वरूप ज्योति में चमकता हुआ निर्लिप्त (केवली) बन जाता है।

इति श्रीपातञ्जलभाष्ये सांख्यप्रवचने विभूतिपादस्तृतीयः समाप्तः ॥ ३ ॥

टि. सू ५४ (क) यह ज्ञान न पुस्तक-ज्ञान है और न ही मौखिक शब्द है, परन्तु यह विवेक-ख्याति नामक दर्शन है जिसका वर्णन दूसरे आध्याय के २३ वें सूत्र में हो चुका है । यहां सूत्र तथा भाष्य से यह स्पष्ट है कि एकत्व अर्थात् ' पुरुष ' के साथ बुद्धिसत्त्व की एकरूपता से ही कैवल्य आता है ।

यहां सांख्य के श्रेष्ठतम उपदेश में पतञ्जली द्वारा प्रणीत योगविज्ञान संबंधीय सिद्धिपाद नामक तीसरा अध्याय समाप्त होता है ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

कैवल्यपाद

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

मूलार्थ— जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धियां उत्पन्न होती हैं— १.

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः । देहान्तरिता जन्मसिद्धिः ओषधीभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः । मन्त्रैराकाशगमनमणिमादिसिद्धिः । तपसा सङ्कल्पसिद्धिः । कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादि, समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ॥ १ ॥

जन्मसिद्धि (क) शरीर के अन्तर्वर्ती (स्वाभाविक) है । असुरों के घरों में जड़ी-बूटियों (ओषधियों) से रसायनादि बनाये जाते हैं । मन्त्रों (ख) से आकाश-गमन तथा अणिमादि सिद्धियां प्राप्त होती हैं । तप से संकल्पसिद्धि आती है; वह (साधक) अपनी इच्छानुरूप शरीर धारण करता है तथा खुशी अनुसार विचरता रहता है इत्यादि । समाधि से उत्पन्न सिद्धियों की व्याख्या (तीसरे अध्याय में) हो चुकी है ।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

मूलार्थ— विभिन्न जातियों में परिणाम प्रकृति (अन्तर्निहित आदि कारण) के प्रवाह हेतु आता है— २.

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातिपरिणतानाम् जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् । पूर्वपरिणामा-

अन्य जातियों में परिणत शरीर और इन्द्रियों के संबंध में विभिन्न जातियों में परिणाम प्रकृति

टि. सू. १ (क) यहां यह जानना है कि मनुष्य जो कुछ भी जन्म से प्राप्त करता है वह जन्मसिद्धि है । यह वर्तमान जीवन में उसके प्रयत्नों से उत्पन्न नहीं की जाती ।

(ख) वैदिक मंत्रशक्ति से अनभिज्ञ लोगों का यह प्रचार है कि भगवान् सर्वज्ञ होने से मनुष्य अपनी इच्छानुसार उसकी प्रार्थना राम अथवा रहीम, कृष्ण अथवा करीम इत्यादि नामों से कर सकता है तथा भगवान् सर्वत्र विराजमान रहने से प्रत्येक व्यक्ति उसकी पूजा ' ॐविष्णवे नमः ' अथवा ' ॐविष्णाय नमः ' इत्यादि किसी भी भाषा के किसी भी शब्द द्वारा कहीं भी कर सकता है । परन्तु दृष्टिसम्पन्न पुरुष का हमें यह उपदेश है कि विरोचन अपने शत्रु इन्द्र को मारने के अर्थ यज्ञसम्पादन में ' इन्द्रशत्रो हतः ' नामक वेदमंत्र के उच्चारण दोष से उसी पीड़नात्मक कुफल को अपने पर उठाने में बाध्य हुआ था जिसे इन्द्र पर प्रयोग करना उसका संकल्प था; अतः शास्त्रविधि के पूर्णतया अधीन होकर ही सब कर्मों का सम्पादन करना पड़ेगा ।

पाये उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद्भवति । कार्येन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ॥ २ ॥

(क) के प्रवाह से आता है । पूर्व परिणाम के अन्त होने पर उत्तर परिणाम उन (शरीर व इन्द्रियादि) अगों के आने पर प्रकट होता है जो पहिले नहीं थे । शरीर और इन्द्रियों के अन्तर्निहित आदि कारण (प्रकृतियां) धर्मादि निमित्त (उद्बोधक) कारण पर निर्भर करते हुए प्रवाह द्वारा अपने अपने विकारों को सहायता देते हैं ।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

मूलार्थ— उद्बोधक कारण अन्तर्निहित आदि कारणों का निर्माणकर्त्ता नहीं है, उससे केवल आवरण काटा जाता है जैसे किसान द्वारा— ३.

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । नहि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं भवति प्रकृतीनाम् । न कार्येण कारणं प्रवर्त्यत इति । कथं तर्हि ? वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनापकर्षत्यावरणं त्वासां भिनत्ति तस्मिन्भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तरमाप्लावयन्ति तथा धर्मः

धर्मादि उद्बोधक कारण अन्तर्निहित आदि कारणों का निर्माण कर्त्ता नहीं बन सकता (क) । कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होता है । तब कैसे ? उससे केवल आवरण ही काटा जाता है जैसे किसान द्वारा । जिस प्रकार जलपूर्ण खेत से समान, निम्न अथवा निम्नतर तलवाले किसी दूसरे खेत को सींचने की इच्छा रखता हुआ किसान अपने हाथ से पानी को नहीं खींचता, परन्तु उसका बांध ही केवल काटता है और बांध के कट जाने पर जल स्वयं ही दूसरे खेत में भर जाता है; वैसे ही अन्तर्निहित आदि-कारण के आवरण रूप अधर्म को धर्म काटता है । इसके काटे जाने पर अन्तर्निहित आदि-

टि. सू. २ (क) यहां ' प्रकृतियां ' (अन्तर्निहित आदि कारण) गुणों के कार्यों को सूचित करती हैं और ' निमित्त ' शब्द मनुष्य द्वारा संपादित कर्म का द्योतक है ।

टि. सू ३ (क) यहां यह जानना आवश्यक है कि ' वस्तु ' के अनादिभाव के कारण इसकी शक्ति भी अनादि है । तदनुसार, शक्ति से आने वाले अन्तर्निहित कारण (गुण-कर्म) भी स्वाभाविक तथा अनादि हैं; वे मानवीय-कर्माधीन पाप-पुण्य रूप उद्बोधक कारण द्वारा उत्पन्न नहीं किये गये । वे केवल उद्बोधक कारण की विचित्रताओं के साथ मिलकर ही कर्माशय के विपाक के लिये अन्तर्निहित आदि शक्ति (दैव) का आकार धारण करते हैं ।

प्रकृतीनामावरणमधर्मं भिनत्ति तस्मिन्भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति।

कारण स्वयं ही अपने अपने विकारों में परिणत होते हैं।

यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान्भौमान्वा रसान्धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुम्। किं तर्हि? मुद्गगवेधुकश्यामाकादींस्ततोऽपकर्षति। अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति। तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविरोधात्। न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति। अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्याः।

अथवा जैसे वही किसान उसी खेत पर धान के पौधों की जड़ों में मिट्टी तथा जल से उत्पन्न रस को प्रवेश कराने में समर्थ नहीं होता, वह तो केवल मुद्ग, गवेधुक, श्यामकादि नामक कूड़ा-कर्कट को उस खेत से उठा कर बाहर फेंकता है और उनको हटाने पर रस स्वयं ही धान के पौधों की जड़ों में प्रवेश करता है। उसी प्रकार शुद्धि और अशुद्धि में अत्यन्त विरोध के कारण अधर्म की निवृत्ति के लिये ही धर्म केवल कारण बनता है। अन्तर्निहित आदि कारणों की उत्पत्ति का कारण धर्म कभी नहीं बन सकता। यहां नन्दीश्वर आदि योग्य उदाहरण है।

विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते। ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति। तत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्या इति ॥ ३ ॥

उल्टे ज्ञान द्वारा अधर्म भी धर्म का विरोध करता है; परिणाम रूप में इससे अशुद्धि आती है। यहां भी अजगर रूप में नहुषादि का उदाहरण योग्य है।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

मूलार्थ— निर्माण-चित्त शुद्ध अस्मिता से आते हैं— ४.

यदा तु योगी बहून्कायान्निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्काः?

जब योगी (क) बहु शरीरों को निर्माण करता है, तब क्या वे एक ही मन वाले होते हैं अथवा बहु मन वाले? निर्माण-चित्त शुद्ध अस्मिता से आते हैं।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। अस्मितामात्रं चित्तं कारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवन्तीति ॥ ४ ॥

शुद्ध अस्मिता (ख) चित्त को कारण रूप में लेकर निर्माण-चित्तों को बनाता है। इससे शरीर चित्तयुक्त होते हैं।

टि. सू. ४ (क) यहां 'योगी' शब्द अन्तर्निहित आदि शक्ति (परा प्रकृति) नामक सृष्टिकर्ता है। (ख) यह 'शुद्ध अस्मिता' वेदान्त-दर्शन का एकजीव-नामक ईश्वर है जो 'प्रधान' का लिंगमात्र-गुणपर्व तथा जगत्स्रष्टा है।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

मूलार्थ— उदय होने की भिन्नता पर एक ही चित्त अनेक चित्तों का निर्माणकर्त्ता है— ५.

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् । बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरःसरा प्रवृत्तिरिति ? सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

एक ही चित्त के उद्देश्य को सामने रखते हुए बहु चित्तों का उदय होना किस प्रकार होता है ? सब चित्तों का निर्माण कर्त्ता (ब्रह्मा) एकचित्त (एकजीव) को बनाता है और उससे उदय होने की भिन्नता आती है ।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

मूलार्थ— वहां ध्यान से उत्पन्न (शुद्ध हुआ) चित्त आशय से शून्य है— ६.

तत्र ध्यानजमनाशयम् । पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति । तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिः । नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद्योगिन इति ॥ ६ ॥

निर्माण-चित्त पांच प्रकार के हैं (कारण प्रत्येक चित्त सिद्धि के उद्देश्य से उदय होता है और यह भी पहिले कहा गया है कि) जन्म, जड़ी-बूटी, मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धियां उत्पन्न होती हैं। वहां जो चित्त ध्यान से उत्पन्न होता है, वही केवल कर्माशय से शून्य होता है । रागादि का अभिव्यक्ति रूप आशय केवल इस का ही नहीं होता। इसीलिये, अपने क्लेशों के क्षय होने के कारण योगी का पाप-पुण्य के साथ कोई संबंध नहीं रहता (क)।

टि. सू. ५ (क) यहा भाष्यकार इस विषय को वेदान्त-दर्शन पर छोड़ देते हैं । इसका विशद् विवरण केवल वहां से ही मिल सकता है ।

टि. सू. ६ (क) समाधि से उत्पन्न सिद्धि ही केवल एकजीव नामक सृष्टिकर्त्ता के साथ एकता ला सकती है, इसलिये कुशल योगी का कोई पृथक् संकल्प नहीं होता । तदनुसार, उसके राग व द्वेष नहीं रहते जो आशय के यथार्थ स्वरूप तथा पुनर्जन्म के कारण हैं ।

भाष्य से यह स्पष्ट है कि निर्माण-चित्त ही केवल परिणाम के अधीन हैं, परन्तु शुद्ध अस्मिता नामक उत्पादक चित्त नहीं । यह आपेक्षिक कारण होने पर भी सदा कूटस्थ स्थिति में रहता है ।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

मूलार्थ— योगी का कर्म न शुक्ल (सफ़ेद) और न कृष्ण (काला) होता है; औरों का तीन प्रकार का है— ७.

इतरेषां तु विद्यते कर्माशयो यतः— कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् । चतुष्पात्खल्वियं कर्मजातिः । कृष्णा शुक्लकृष्णा शुक्लाऽशुक्लाकृष्णा चेति ।

औरों के संबंध में कर्माशय रहता है, कारण, योगी का कर्म न शुक्ल और न कृष्ण होता है; औरों का तीन प्रकार का है । कर्म की जाति के निःसंदेह चार पद हैं— कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और न शुक्ल न कृष्ण ।

तत्र कृष्णा दुरात्मनाम् । शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः ।

वहां, (शास्त्र-निषिद्ध) कृष्ण कर्म पापियों का है । शुक्ल-कृष्ण बाह्य साधन (शास्त्रविहित यज्ञ) द्वारा संपादित होता है । इसलिये वहां दूसरों के प्रति अनुग्रह तथा हिंसा द्वारा कर्माशय बनता है ।

शुक्ला तपः स्वाध्यायध्यानवताम् । सा हि केवले मनस्यायत्तत्वाद् बहिः साधनानधीना न परान्पीडयित्वा भवति ।

तप, स्वाध्याय और ध्यान में लगे हुओं का शुक्ल कर्म है, क्योंकि केवल चित्ताधीन होने के कारण यह (कर्म) बाहरी (यज्ञादि) साधनों पर निर्भर नहीं करता । इसलिये दूसरों के प्रति हिंसा से यह उत्पन्न नहीं होता ।

अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति । तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासादकृष्णं चानुपादानात् । इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति ॥ ७ ॥

न शुक्ल न कृष्ण कर्म उन संन्यासियों का है जिनके क्लेश क्षय हो चुके हैं तथा जो अन्तिम देह वाले हैं । वहां फल-संन्यास के कारण योगी का न शुक्ल कर्म है और बहिर्जगत् से इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने के कारण न ही कृष्णकर्म है । औरों का पूर्वकथनानुसार तीन प्रकार का कर्म है ।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

मूलार्थ— उससे अपने ही केवल विपाकों के अनुकूल संचित संस्कारों की अभिव्यक्ति जागती है-८.

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् । तत इति त्रिविधात्कर्मणस्तद्विपाकानुगुणानामेवेति— यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाक-

" उससे " शब्द उक्त तीन प्रकार के कर्मों को सूचित करता है । " अपने ही विपाकों (फलनिष्पत्ति) के अनुकूल "— इस कथन का यह अभिप्राय है कि वेही आपेक्षिक संचित संस्कार ही केवल कर्म की फलनिष्पत्ति का अनु-

स्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते । तासामेवाभिव्यक्तिः, नहि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं संभवति । किंतु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते ।

सरण करते हैं जो अपनी अपनी जाति के कर्म-विपाकों के अनुकूल हैं । (इसलिये) केवल उन्हीं संचित संस्कारों की अभिव्यक्ति जागती है; कारण देव-पदवी को देने वाले कर्म नरक, पशु तथा मनुष्य जीवन के संचित संस्कारों की अभिव्यक्ति के लिये उद्बोधक कारण कभी नहीं बन सकते, परन्तु देव-पदवी के अनुकूल ही संचित-संस्कार जाग्रत होते हैं ।

नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः ॥ ८ ॥

इसी प्रकार, उसी नियम को नरक, पशु तथा मनुष्य जीवन के लिये भी प्रयोग करना होगा ।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

मूलार्थ--जाति, देश तथा काल से विभक्त होने पर भी उन (संचित संस्कारों) में व्यवधान (मध्यवर्ती स्थान) है, कारण स्मृति (प्रारब्ध) और संस्कार की एकरूपता है-९.

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् । वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः । स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियाद्द्रागित्येवं पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यजेत । कस्मात् ? यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्यमेव । कुतश्च ? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।

बिल्ली के विपाक का उदय अपने अभिव्यञ्जक (प्रकट करने वाला) कारण के रंग से अभिव्यक्त होता है। यदि यह सौ जन्म अथवा सौ दूरस्थित देश अथवा सौ कल्पों द्वारा व्यवहित हो तो भी यह अपने अभिव्यञ्जक कारण के रंग से युक्त हो कर पहिले अनुभव (अर्थात् कर्म) किये हुए बिल्ली-जन्म के विपाक द्वारा रचित संस्कारों को ग्रहण करके शीघ्र ही पुनः जाग उठता है । क्यों ? कारण, व्यवहित होने पर भी उनका (संचित संस्कारों का) उद्बोधक कारण रूप समान अभिव्यञ्जक कर्म है, यही निःसन्देह व्यवधान है। और क्या ? (दूसरा कारण यह है कि) स्मृति और संस्कार की एकरूपता है ।

यथानुभवास्तथा संस्काराः ते च कर्मवासनारूपाः । यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति । जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः,

जैसे अनुभव (किये हुए कर्म) होते हैं वैसे ही संस्कार भी बनते हैं। पुनः ये संस्कार कर्म के संचित संस्कारों (वासना) के आकार वाले हैं । और भी, जैसे संचित संस्कार हैं, वैसी ही स्मृति है । जाति, देश और काल द्वारा व्यवहित

स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येवमेते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद्व्यज्यन्ते । अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति । वासनाः संस्कारा आशया इत्यर्थः ॥९॥

हुए संस्कारों से स्मृति (प्रारब्ध) आती है; पुनः स्मृति से संस्कार आते हैं। इसप्रकार, कर्माशय के क्रियात्मक व्यापार के बल से स्मृति और संस्कार जागते हैं। इस हेतु से भी यह सिद्ध है कि उनके व्यवहित होने पर भी कारण-कार्य संबंध (क) के अन्त न होने के कारण (उन कर्मों के लिये) निःसंदेह मध्यवर्ती स्थान है। अर्थ यह है कि क्रियमाणकर्म (संस्कार) ही (दूसरे रूप में) संचित संस्कार (वासना) और कर्माशय हैं।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १ ॥

मूलार्थ— उनकी अनादिभाव की स्थिति भी है, कारण, आशीर्वाद (जीवन से ममता) की नित्यता है— १०.

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम् । येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी । कस्मात् ? जातमात्रस्याननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषो दुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत् ?

आशीर्वाद की नित्यता के कारण वे अर्थात् संचितसंस्कार अनादि हैं। "मेरा अभाव न हो, मैं सदा जीवित रहूं" — ऐसा आत्माशीर्वाद जो सब में देखा जाता है वह स्वाभाविक नहीं है। क्यों ? जिस सद्योजात प्राणी ने मरण-धर्म को अनुभव नहीं किया, उसे दुःख की स्मृति से उत्पन्न मृत्यु-भय के आकार में द्वेष किस प्रकार आ सकता है ?

न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते। तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति ।

पुनः एक स्वाभाविक वस्तु कभी भी किसी उद्बोधक कारण की अपेक्षा नहीं रखती। इसलिये, अनादि संचित-संस्कारों से सम्मिश्रित चित्त उद्बोधक कारण के बल से (उनमें से) किसी संचित-संस्कार को ग्रहण करके 'पुरुष' के भोग के लिये जागता है।

टि. सू. ९ (क) इससे यह स्पष्ट है कि बीज-शक्ति सहित कर्माशय ही कारण-कार्य संबंध है। जब तक कारण रूप कर्माशय है तब तक यह पुनर्जन्म रूप कार्य को उत्पन्न करता ही रहेगा। यहां 'संस्कार' शब्द (वर्तमान जन्म में किये जाने वाले) क्रियमाण कर्म को सूचित करता है, 'स्मृति' प्रारब्ध को तथा 'वासना' संचित कर्म को।

घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः । तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति ।

दूसरों का यह मत है कि घट अथवा राजमहल में रखे हुए प्रदीप की ज्योति की न्याईं संकोच और विकास की शक्ति से युक्त चित्त केवल शरीर-परिमाण के आकार वाला है, इसलिये व्यवधान का अभाव है तथा (क्रम से आने वाले शरीरों के साथ चित्त की) अविच्छिन्नता योग्य है (क)।

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः । तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम् । निमित्तं च द्विविधम् । बाह्यमाध्यात्मिकम् च । शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम् । तथा चोक्तम् ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते

दृष्टिसम्पन्न वैदिक आचार्य का कथन है कि इस सदा-विद्यमान चित्त की वृत्ति ही केवल संकोच और विकास गुण वाली है। पुनः यह (वृत्ति) धर्म आदि उद्बोधक कारण पर निर्भर करती है। उद्बोधक कारण भी दो प्रकार का है— बाह्य और आध्यात्मिक। जो शरीरादि साधन के अधीन है वह बाह्य है जैसे स्तुति, दान, प्रणाम इत्यादि; और जो केवल चित्त के ही अधीन है, वह आध्यात्मिक है जैसे श्रद्धा (तीव्र आकांक्षा) इत्यादि (ख)। तदनुसार यह भी कहा गया है कि "जो ये मैत्री आदि हैं वे ध्यान करने वालों के मनोविनोद हैं; वे बाह्य साधनों से स्वतन्त्र स्वभाव वाले हो कर सर्वोत्तम धर्म को सम्पूर्ण करते हैं"।

टिः सू. १० (क) कई लोगों का यह विचार है कि जैसे प्रदीप की ज्योति छोटी या बड़ी जैसी भी वस्तु में रखी जाती है उसी का ही आकार धारण करती है, वैसे ही चित्त भी छोटे या बड़े शरीर के परिमाण वाला है। तदनुसार उनका मत है कि पुनर्जन्म रूप किसी भी व्यवधान बिना यह चित्त निरन्तर प्रवाह में रहता है अर्थात् पिता के पुत्र रूप में केवल परिवर्तन द्वारा ही चित्त एक शरीर से दूसरे शरीर में आता है। मिस्टर डारविन का क्रम-विकासवाद यहां उदाहरण-योग्य हो सकता है।

भाष्यकार इस शंका का समाधान यह कह कर करते हैं कि चित्त स्वयं संकोच और विकास वाला नहीं है, परन्तु उस सदा-विद्यमान चित्त की वृत्ति ही केवल प्रदीप की ज्योति की न्याईं संकोच और विकास को प्राप्त होती है। पुनः प्रदीप भी स्वयं न संकुचित और न विकसित होता है, परन्तु जिस कमरे में इसे रखा जाता है उसी के परिमाणानुसार इसकी ज्योति ही केवल ऐसी हुआ करती है। इसी-प्रकार, धर्म (पुण्य) पर आश्रित होने से चित्तवृत्ति विकास को प्राप्त होता है और अधर्म (पाप) पर आश्रित होने से संकोच को। वेदान्त-दर्शन के आभास-वाद में इस शंका का समाधान पूर्णतया हुआ है।

(ख) बाह्य उद्बोधक कारण (निमित्त) गीता का कर्म-योग है और आध्यात्मिक उद्बोधक कारण बुद्धियोग, ज्ञान-योग, ज्ञानयज्ञ और भक्तियोग है। प्रथम अध्याय के नवें सूत्र में यह सूचना दी गई है

बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति, तयोर्मानसं बलीयः। कथं? ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते? दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत्॥ १०॥

इन दोनों में से मानसिक (आध्यात्मिक उद्बोधक कारण) शक्तिशाली है। कैसे? ज्ञान और वैराग्य को कौन अतिक्रम कर सकता है? चित्त-बल के बिना केवल शारीरिक-कर्म द्वारा ही दण्डक बन को खाली करने का कौन उत्साह रख सकता है अथवा अगस्त्य की न्याईं कौन समुद्र को पी सकता है?

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥ ११॥

मूलार्थ— हेतु, फल, आश्रय और आलंबन द्वारा संगृहीत होने के कारण वे (संचित संस्कार) इनके (हेतु आदि के) अभाव होने पर समाप्त हो जाते हैं– ११.

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः। हेतुर्धर्मात्सुखमधर्माद्दुःखम्। सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषस्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति। प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रमस्य च प्रतिक्षणमावर्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः।

'हेतु' का अर्थ यह है कि धर्म (पुण्य) से सुख तथा अधर्म (पाप) से दुःख उत्पन्न होते हैं। सुख से राग और दुःख से द्वेष आता है; इससे प्रयत्न भी आता है। तद्द्वारा मनुष्य मन, वाणी अथवा शरीर से चालित हो कर दूसरे के प्रति अनुग्रह अथवा हिंसा करता है। उससे पुनः धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। तदनुसार छः आरों वाला यह पुनर्जन्म रूप चक्र (क) गतिशील है और सब क्लेशों का मूल अविद्या प्रतिक्षण घूमते हुए इस (चक्र) की चालक है; यही 'हेतु' है।

कि ज्ञान का निराकार व्युत्थान और निरोध इन दोनों संस्कारों में बुद्धि का व्यापार है तथा भक्ति से भी एकता रखता है; कारण, ये (ज्ञान व भक्ति) दोनों अध्यात्म कर्म को सूचित करते हैं। ज्ञान का परम आकार शुद्ध तत्त्व चित् नामक 'वस्तु' है। गीता में यह विषय पूर्णतया आलोचित हुआ है।

चित्त-शुद्धि के लिये मैत्री आदि चार सहायक सद्गुण हैं और श्रद्धा (तीव्र आकांक्षा) आदि योगाङ्गों सहित क्रियाविधि के पांच क्रमिक पद हैं (यो. सू. यथाक्रम १।३३, २० देखो)।

टि. सू. ११ (क) वे छः आरे द्वन्द्व हैं जैसे पाप-पुण्य, सुख-दुःख और राग-द्वेष।

फलं तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः। नह्यपूर्वोपजनः।

'फल' वह है जिस पर आश्रित हो कर उसके (मनुष्य के) धर्मादि पुनरुत्पन्न होते हैं। अस्तित्वशून्य वस्तु का जन्म नहीं हो सकता (ख)।

मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। नह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते।

कर्त्तव्य से बंधा हुआ मन संचित संस्कारों का 'आश्रय' है। आश्रयहीन संचित संस्कार कर्त्तव्य-संपादन किये हुए मन में ठहरने का साहस नहीं कर सकते।

यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम्।

जिस (वासना) की ओर मुख करके 'वस्तु' संचित-संस्कारों को प्रकट करती है, वही संचित-कर्म (वासना) का आलंबन है (ग)।

एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः। एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः॥ ११॥

अतः सब संचित कर्म— 'हेतु', 'फल' 'आश्रय' और 'आलंबन' द्वारा संगृहीत हैं। इनके अभाव होने पर इनके द्वारा प्रतिपालित संचित कर्मों का भी अन्त हो जाता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

मूलार्थ— अतीत और भविष्य की सत्ता वास्तव में है, कारण धर्मों के पथों में भेद है– १२.

नास्त्यसतः सम्भवः। न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन सम्भवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति? अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्। भविष्यद्-

यह नियम है कि असत् (अस्तित्व शून्य) का आविर्भाव नहीं और सत् का विनाश नहीं, तब 'द्रव्य' (क) के भाव में विद्यमान संचित संस्कारों का कैसे अन्त हो जाता है? अतीत और भविष्य की सत्ता वास्तव में है; कारण, धर्मों के पथों में भेद है। भविष्य वह है जिसकी अभिव्यक्ति अब तक नहीं हुई; अतीत वह है जिसकी

(ख) यह 'हेतु' संकल्प है। संसार में संकल्पहीन कुछ भी नहीं, यही अभिप्राय है।

(ग) 'आलंबन' कर्माशय है। यहां 'वस्तु' प्रधान नामक तीन गुणों की समष्टि है (यो. सू. २।१८)।

टि. सू. १२ (क) यहां 'द्रव्य' को 'एकजीव' (अर्थात् अन्तिम परमाणु) समझना होगा जो लिंगमात्र-गुणपर्व पर व्यक्तावस्था में स्थित है और 'सृष्टि' (अर्थात् सब प्रजा) का आपेक्षिक कारण है। इसीप्रकार भाष्यकार यह स्थापित कर चुके हैं कि यह अन्तिम 'परमाणु' न्याय-वैशेषिक द्वारा विशेष-

व्यक्तिकमनागतमनुभूतव्यक्तिकमतीतं स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानं त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्।

अभिव्यक्ति अनुभूत हो चुकी है और वर्तमान वह है जो अपने ही व्यापार में आरूढ़ है। यही त्रिक 'वस्तु' है अर्थात् 'ज्ञान' (पुरुष) का 'ज्ञेय' है।

यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति। किंच? भोगभागीयस्य वाऽपवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरूपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वोपजनने सिद्धम्। निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति।

पुनः यदि यह त्रिक वास्तव में अस्तित्व से शून्य होता तो क्षेत्र न पाने पर 'ज्ञान' (पुरुष) का उदय न हो सकता। अतः अतीत और भविष्य की वास्तव में सत्ता है। अधिक क्या है? भोग संबंधीय अथवा मोक्षसंबंधीय कर्म के फल को उत्पन्न करने की इच्छा वाला 'सत्य' यदि निरूपित न होता तो उस उद्देश्य से उस उद्बोधक कारण द्वारा कुशल कर्म का संपादन संभव न हो सकता। पुनः उद्बोधक कारण 'सत्य' के फल को वर्तमान स्थिति में लाने के लिये ही समर्थ है, परन्तु किसी भी अस्तित्व शून्य वस्तु के कार्य को लाने में यह सफल नहीं हो सकता। फल को किसी विशेष अवस्था में लाने के लिये उद्बोधक कारण सहायक होता है, परन्तु कोई भी नयी वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकता।

धर्मी चानेकधर्मस्वभावः। तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः। न च यथावर्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतं च। कथं तर्हि? स्वेनैव व्यंग्येन स्वरूपेणा-

धर्मी अनेक धर्मों के स्वभाव वाला है। पथों में भेद होने के कारण इसके धर्म भी परस्पर विरुद्ध रहते हैं। पुनः 'द्रव्य' के रूप में जैसे वर्तमान (अभिव्यक्ति) ने विशेष अभिव्यक्ति प्राप्त की है, उस प्रकार अतीत और भविष्य नहीं रहते। तब कैसे? भविष्य का अस्तित्व वास्तव में अपनी सूचक अभिव्यक्ति में होता है और अतीत का

गुणपर्व में रखे गये 'द्रव्य' का शुद्ध तत्त्व रूप आकार है (यो. सू. ३।४४, ५२)। पुनः कर्म-क्षेत्र के पार 'वस्तु' को दिखाने वाले ब्रह्मसूत्र में इस अंतिम परमाणु रूप एकजीव को ब्रह्म (वस्तु) कहा जायेगा। कारण 'द्रव्य' जब तक बुद्धिक्षेत्र के अन्तर्गत रहता है तब तक ही इसी नाम से कहा जाता है। परन्तु वही 'द्रव्य' को 'वस्तु' नाम तब दिया जाता है जब यह बुद्धिक्षेत्र के पार चला जाता है।

(ख) इस सूत्र से भाष्यकार शून्यवाद का खंडन आरंभ करते हैं। अभिप्राय यह है कि 'वस्तु' सदा ही अपरिणामी है, केवल इसका धर्म ही आविर्भाव और तिरोभाव रूप परिणाम को प्राप्त होता है। अतः यहां भाष्यकार द्वारा आत्मा का पुनर्जन्म पूर्णतया सिद्ध किया गया है।

नागतमस्ति स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति । वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति । न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोरेकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वानामिति ॥ १२ ॥

अस्तित्व अपनी अनुभूत व्यक्तिगत अभिव्यक्ति द्वारा रहता है। केवल मात्र वर्तमान के पथ की अभिव्यक्ति ही व्यक्तिगत रूप में प्रगट रहती है। अतीत और भविष्य पथों के संबंध में यह (व्यक्तिगत अभिव्यक्ति) नहीं घटती। एक पथ के समय दूसरे दोनों पथ धर्मी के साथ एकीभाव में रहते हैं। अतः इन तीन पथों की सत्ता अस्तित्व से शून्य नहीं है।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

मूलार्थ— वे व्यक्त और सूक्ष्म हैं तथा गुणों के स्वभाव वाले हैं– १३.

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः । ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः षडविशेषरूपाः । सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रमिति । परमार्थतो गुणात्मानस्तथा च शास्त्रानुशासनम्– " गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति । यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकमिति " ॥ १३ ॥

वे निःसन्देह तीन पथों से युक्त धर्म हैं। वर्तमान धर्म व्यक्त स्वरूप वाले तथा अतीत और भविष्य सूक्ष्म स्वरूप वाले अर्थात् छः 'अविशेष' रूप हैं (यो. सू. २।१९)। यह सब गुणों का ही समष्टि-विशेष है। वास्तव में वे गुणों के स्वभाव वाले हैं। (प्रामाणिक) शास्त्र का भी इसीप्रकार का अन्तिम उपदेश है — " गुणों का परम रूप दृष्टिपथ में नहीं आता, जो दृष्टिपथ में आता है वह अतीव तुच्छ भ्रम है "।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

मूलार्थ— परिणामों की एकता से 'वस्तु' का तत्त्व आता है– १४.

यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति ? परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् । प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियम् । ग्राह्यात्मकानां शब्दतन्मात्रभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति । शब्दादीनां मूर्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथिवीपरमाणुस्त-

जब सब ही गुण हैं तो कैसे एक परिणाम शब्द होता है और एक परिणाम इन्द्रिय ? परिणामों की एकता से 'वस्तु' का तत्त्व आता है। सत्व, रज और तम से युक्त गुणों का ग्रहणस्वरूप में करण (इन्द्रिय) भाव से एक परिणाम श्रवणेन्द्रिय है और उनके ग्राह्यस्वरूप में शब्दतन्मात्र-भाव से एक परिणाम शब्द रूप विषय है। आकार में समान जातीय के शब्दादि का एक परिणाम मिट्टी का परमाणु अर्थात् तन्मात्राओं का

मात्रावयवस्तेषां चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः।

अवयव (शरीर) है। पुनः उन परमाणुओं का एक परिणाम पृथ्वी, गाय, वृक्ष, पर्वत इत्यादि है। अन्य भूतों के बारे में भी स्निग्धता, उष्णता, गतिशीलता और शून्य स्थान-दान संबंधीय विकार के एक ही आरंभ को समान भाव से समझना होगा।

नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः। अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तु स्वरूपमपह्नुवते— ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु।

"ऐसा कोई अर्थ (तत्त्व) नहीं जो विज्ञान के साथ न रहे, परन्तु ऐसा विज्ञान है जो अर्थ (तत्त्व) के बिना रहता है जैसे कि स्वप्न में कल्पित अर्थ"— इस दृष्टिकोण से कई लोग यह कह कर 'वस्तु' का स्वरूप गोपन करते हैं कि 'वस्तु' केवल विज्ञान की ही कल्पना है (क)।

स्वप्नविषयोपमं तु न परमार्थतोऽस्तीति ये आहुस्ते तथेति। प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु। कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः? ॥ १४ ॥

जो यह कहते हैं कि यह ('वस्तु') केवल स्वप्न के विषय तुल्य और वास्तव में अस्तित्वशून्य है, वे स्वयं ही स्वप्न के विषय सदृश हैं। 'वस्तु' अपने ही बल से विद्यमान है। उनका कथन कैसे माना जा सकता है जो अपने झूठे काल्पनिक ज्ञान के बल पर 'वस्तु' के यथार्थ स्वरूप का खंडन करते हुए उसे गोपन करते हैं?

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

मूलार्थ— 'वस्तु' की समानता में चित्तों का भेद होने के कारण इन दोनों का पथ भिन्न है– १५.

कुतश्चैतदन्याय्यम्? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः। बहुचित्तालम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणं तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किंतु स्वप्रतिष्ठम्।

और किस कारण से यह अयोग्य है? 'वस्तु' की समानता में चित्तों का भेद होने के कारण इन दोनों का पथ भिन्न है। एक ही 'वस्तु' अनेक चित्तों का आधार हो कर (सब के लिये) सामान्य है। यह वास्तव में न एक चित्त द्वारा कल्पित है और न ही बहु चित्तों द्वारा, परन्तु यह अपने में ही प्रतिष्ठित है। कैसे?

टि. सू. १४ (क) प्रतिपक्षियों द्वारा उठाया हुआ यह क्षणिक-विज्ञानवाद है। अब भाष्यकार निम्नलिखित सूत्रों में यथायोग्य युक्तियों से इस मत का खंडन करते हैं।

कथं ? वस्तुसाम्ये चित्तभेदाद्धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानमविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति । कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम् ?

कारण, 'वस्तु' की समानता में चित्तों का भेद है। 'वस्तु' की समानता में भी चित्त को सुखानुभव धर्म पर आश्रित होने से आता है और अधर्म का आश्रय लेने पर उसी ('वस्तु') से दुःखानुभव, तथा अविद्या का आश्रय लेने पर उसी से मूढ़ कल्पना एवं सम्यग् दर्शन का आश्रय लेने पर उसी से उदासीनता का ज्ञान आता है। वह ('वस्तु') किस चित्त द्वारा कल्पित है ?

न चान्यचित्तकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तस्तस्माद्वस्तुज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः । नानयोः सङ्करगन्धोऽप्यस्तीति ।

पुनः यह युक्तियुक्त नहीं है कि एक चित्त द्वारा कल्पित अर्थ से दूसरा चित्त रंगा जाये। इसलिये 'वस्तु' और विज्ञान इन दोनों का पथ ग्राह्य और ग्रहण धर्मों के भेद से विभक्त हुआ भिन्न है। इन दोनों में सम्मिश्रण की गन्ध भी नहीं है।

साङ्ख्यपक्षे वस्तु पुनस्त्रिगुणं चलं च गुणवृत्तमिति । धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तैरभिसम्बध्यते निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनात्मना हेतुर्भवति ।

सांख्य-सिद्धांतानुसार 'वस्तु' पुनः तीन गुण वाली है तथा गुणों का व्यापार सदा परिणामशील है। उद्बोधक कारण (निमित्त) के रूप में धर्मादि पर निर्भर करती हुई 'वस्तु' चित्त से संबंध रखती है। पुनः यह उद्बोधक कारण के अनुरूप उत्पन्न किये गये वृत्ति-ज्ञान (प्रत्यय) का उत्पत्ति-स्थल होता है तथा उनके (प्रत्ययों के) स्वभावों को ग्रहण करता है।

केचिदाहुः ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात्सुखादिवदिति । त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरक्षणेषु वस्तुस्वरूपमेवापह्नुवते ॥ १५ ॥

कई लोगों का कथन है कि अर्थ (तत्त्व) विज्ञान का सहवर्ती है; कारण, सुखादि की न्याईं यह (अर्थ) भोग्य-भाव रखता है। इस युक्ति द्वारा वे (लोग) इसके सामान्य भाव को खंडन करते हुए पूर्वोत्तर क्षणो में 'वस्तु' के ही स्वरूप को गोपन करते हैं।

न चैकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु तत्प्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

मूलार्थ— पुनः यदि 'वस्तु' का संबंध एकचित्त से न होता तो इसका ज्ञान क्या होता ?- १६.

न चैकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु तत्प्रमाणकं तदा किं स्यात्? एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा स्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यस्याविषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्य भावकं केनचित्तदानीं किं न स्यात्? सम्बध्यमानं वा पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत? ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत। तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

यदि 'वस्तु' का संबंध एक ही चित्त से है तो बहुमुखी अथवा निरुद्ध चित्त में 'तत्त्व' निःसन्देह उस (चित्त) से न छुआ हुआ रहेगा और न ही किसी दूसरे चित के क्षेत्र में आयेगा। वह (तत्त्व) ज्ञान (प्रमाण रूप अन्तःकरण) के परे अर्थात् किसी दूसरे द्वारा ग्रहण रूप अनुभव के परे है। तब क्या वह अस्तित्व से शून्य रहेगा? और चित्त से पुनः संबंधित हो कर वह कहां से उत्पन्न होता है? पुनः यदि उसके अनुपस्थित भाग न रहे तो ऐसी स्थिति में जहां पीठ ही नहीं है वहां उदर को कैसे ग्रहण किया जायेगा। अतः अर्थ (जगतसत्ता प्रधान) स्वतन्त्र है और सब 'पुरुषों' के लिये सामान्य है; चित्त भी स्वतन्त्र हैं और प्रत्येक 'पुरूष' के साथ नियुक्त हैं। इन दोनों के संबंध के कारण जो स्वीकृति आती है वह 'पुरुष' का भोग है।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

मूलार्थ— उस (तत्त्व) के रंग पर चित्त आश्रित होने के कारण 'वस्तु' ज्ञात और अज्ञात रहती है- १७.

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्। अयस्कान्तमणिकल्पा विषयाः अयः सधर्मकं चित्तमभिसम्बध्योपरञ्जयन्ति। येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुरुषोऽज्ञातः। वस्तुनो ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

चुंबक की न्याईं 'विषय' केवल साक्षात् संबंध से ही लोहे के समान धर्म वाले चित्त को रंगते हैं। पुनः जिस विषय से चित्त रंगा जाता है, वही विषय ज्ञात होता है। इससे अन्य जो (विषयी) 'पुरुष' है वह अज्ञात रहता है। 'वस्तु' के ज्ञात और अज्ञात भाव को रखने के कारण चित्त परिणामी है (क)।

टि. सू. १७ (क) योगसूत्र कर्मभूमि का प्रतिपादक होने के कारण यहां भाष्यकार 'वस्तु' (नित्य तत्त्व) के दो विभाग दिखाते हैं। इसका जड़ांश 'प्रधान' है जो 'वस्तु' का संमुखभाग उदर है तथा चित्त द्वारा

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

मूलार्थ-- 'पुरुष' का अपरिणामी भाव रहने के कारण चित्त की वृत्तियां इसके स्वामी को सदा ही ज्ञात रहती हैं- १८

यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्। यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत्ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवज्ज्ञाताज्ञाताः स्युः सदा ज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥ १८ ॥

उस (स्वामी) के संबंध में जिसका क्षेत्र केवल यह चित्त है – 'पुरुष' का अपरिणामी भाव रहने के कारण चित्त की वृत्तियां इसके स्वामी को सदा ही ज्ञात रहती हैं। यदि स्वामी 'पुरुष' भी चित्त की तरह परिणाम को प्राप्त होता तो उस परिणाम-क्षेत्र वाली चित्त-वृत्तियां, शब्दादि विषयों की न्याईं ज्ञात और अज्ञात होतीं, परन्तु मन को निरन्तर जानने वाला भाव (चित्त के) स्वामी 'पुरुष' के अपरिणामित्व को सिद्ध करता है।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

मूलार्थ-- यह चित्त स्वयं प्रकाशित नहीं है; कारण, इसका दृश्यभाव है— १९.

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च वैनाशिकानां चित्तात्मवादिनां च भविष्यतीत्यग्निवत् — न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्। यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम्।

यहां वैनाशिक (क) और चित्तात्मवादियों (ख) द्वारा यह संशय उठाया गया है कि चित्त-ही केवल अग्नि की न्याईं स्वयं प्रकाशित तथा विषयों का प्रकाशक भी है– यह स्वयं प्रकाशित नहीं है; कारण, इसका दृश्यभाव है। जैसे दूसरी इन्द्रियों और शब्दादि विषयों में दृश्य का भाव रहने के कारण वे स्वयं प्रकाशित नहीं हैं, वैसे ही मन को भी समझना होगा।

ज्ञात होता है और अध्यात्मांश पीठ का भाग 'पुरुष' है जो अज्ञात रहता है। वेदान्त-दर्शन में इस 'पुरुष' को 'वस्तु' (ब्रह्म) और 'प्रधान' को आत्मख्यापन करने वाली माया नामक (ब्रह्म की) शक्ति कहा जायेगा।

टि. सू. १९ (क) वैनाशिक क्षणिक-विज्ञानवादी हैं। (ख) चित्तात्मवादी चित्त को ही आत्मा मानते हैं उन्हें शून्यवादी भी कहा जाता है।

न चाग्निरत्र दृष्टान्तः । न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति । प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टो न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः । किंच ? स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः । तद्यथा स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशमित्यप्रतिष्ठमेवेत्यर्थः ।

पुनः अग्नि यहां उदाहरण योग्य नहीं है; कारण, अग्नि ऐसे अपने किसी भी आकार को प्रकाशित नहीं करती जो अन्धकारमय हो । इसके अतिरिक्त यह प्रकाश केवल प्रकाश्य तथा प्रकाशक के संयोग में देखा जाता है और किसी का भी संयोग उसके अपने ही शुद्ध स्वरूप में नहीं हो सकता। और क्या है ? ' स्वयं प्रकाशित चित्त ' का अर्थ यह है कि इसे किसी दूसरे द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता– यही शब्दों का अभिप्राय है । इसीप्रकार यदि यह कहा जाये कि " आकाश स्वाश्रित है " तो इसका अर्थ यह है कि " यह केवल निराश्रित ही है । "

स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात्सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते । क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इत्येतत्स्वबुद्धेरग्रहणेन युक्तमिति ॥ १९ ॥

सब प्राणियों की अभिव्यक्ति उनकी अपनी ही बुद्धि के व्यापार रूप प्रतिबिंबित ज्ञान से देखी जाती है जैसे कि मैं क्रुद्ध हूं, मैं भयभीत हूं, यहां मेरी आसक्ति है, वहां मेरा क्रोध है इत्यादि । आत्मरूप में अपनी बुद्धि को न ग्रहण करने से ही यह सब युक्तियुक्त होता है ।

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

मूलार्थ— और भी, एक ही समय दोनों के निर्णय का अभाव– २०.

एकसमये चोभयानवधारणम् । न चैकस्मिन्क्षणे स्वपररूपावधारणं युक्तं क्षणिकवादिनो यद्भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः ॥ २० ॥

और भी, एक ही क्षण में अपने तथा ' दूसरे ' के स्वरूप को निश्चित करना संभव नहीं होता । क्षणिकविज्ञानवादियों का यह मत है कि जो सत्ता है वही क्रिया है और वही उसी रूप से कर्त्ता भी है ।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २१ ॥

मूलार्थ— विभिन्न चित्त मानने पर बुद्धि के पीछे बुद्धि का न्याय-विरुद्ध विस्तार (अतिप्रसंग) आ जाता है तथा स्मृतियों में गड़बड़ी भी– २१.

स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति— चित्तान्तरदृश्ये बुद्धि-

ऐसा एक मत है कि अपने संस्कार सहित लीन हुआ चित्त परवर्ती दूसरे चित्त द्वारा गृहीत होता

बुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च । अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्येत बुद्धिबुद्धिः केन गृह्यते साप्यन्यया साप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च। यावन्तो बुद्धिबुद्धिनामनुभवास्तावत्यः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति तत्सङ्कराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादित्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाकुलीकृतम् ।

है— विभिन्न चित्त मानने पर बुद्धि के पीछे बुद्धि का न्याय-विरुद्ध विस्तार आ जाता है तथा स्मृतियों में गड़बड़ी भी । अब यदि चित्त दूसरे चित्त द्वारा गृहीत हो तब बुद्धि के पीछे बुद्धि किसके द्वारा गृहीत होगी? यह भी दूसरी द्वारा और फिर वह भी किसी दूसरी द्वारा (गृहीत होगी); अतः बुद्धि के पश्चात् बुद्धि का न्याय-विरुद्ध विस्तार तथा स्मृतियों में गड़बड़ी आ जाती है। बुद्धि के पीछे बुद्धियों के जितने अनुभव होंगे उतनी ही स्मृतियां भी होंगी । पुनः इस गड़बड़ी के कारण एक स्मृति के निश्चय का अभाव भी आ जायगा । अतः बुद्धि को प्रतिबिंबित रूप से जानने वाले 'पुरुष' को गोपन करते हुए वैनाशिकों द्वारा सब कुछ निःसन्देह भ्रम में डाला गया है ।

ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन सङ्गच्छन्ते । केचित्तु सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स सत्त्वो य एतान्पञ्चस्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसन्दधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यंति ।

दूसरी ओर, जहां भी वे (लोग) भोक्ता के स्वरूप की कल्पना करते हैं वहां वे न्यायानुसार नहीं चलते । शुद्ध सत्ता की कल्पना करते हुए भी कई लोग यह कहते हैं कि एक सत्ता है जो इन पांच स्कंधों (क) का त्याग करके दूसरों को ग्रहण करती है । ऐसा कह कर वे पुनः और भी दुःखित होते हैं ।

तथा स्कन्धानां महन्निर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवापह्नुवते। साङ्ख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपयन्तीति ॥ २१ ॥

इसीप्रकार, " पूर्ण उपेक्षा, वैराग्य, अनुपजाऊपन तथा पूर्ण शान्ति प्राप्ति के लिये मैं आचार्य के पास ब्रह्मचर्य व्रत पालन करूंगा "— सत्ता के संबंध में ऐसा कह कर भी वे पुनः उसी सत्ता को गोपन करते हैं । सांख्य-योगादि (ख) के सिद्धांतों का उपसंहार 'स्व' (आत्मा) शब्द से होता है जिसका अर्थ चित्त का भोक्ता अर्थात् स्वामी 'पुरुष' है ।

टि. सू. २१ (क) 'स्कंध' संख्या में पांच हैं यथा विज्ञान, वेदन, संज्ञा, रूप और संस्कार । (ख) यहां 'सांख्य-योगादि' शब्द योगसूत्र के पूर्ववर्ती न्याय, वैशेषिक और सांख्य शास्त्रों को सूचित करता है ।

चितेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

मूलार्थ-- अविकारी 'चितिः' बुद्धि के आकार में रूपान्तर पा कर अपनी बुद्धि का ज्ञान रखता है- २२.

कथम् ? चितेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् । अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति । तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते । तथा चोक्तम्, न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनां गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्त इति ॥ २२ ॥

कैसे ? अविकारी 'चितिः' बुद्धि के आकार में रूपान्तर पा कर अपनी बुद्धि का ज्ञान रखता है। भोक्ता की अपरिणामी शक्ति निःसन्देह अविकारी है, परन्तु परिणामी विषय (बुद्धि) के संबंध में यह (भोक्ता की शक्ति) उसी (बुद्धि) में रूपान्तरित हुई सी उसी वृत्ति का अनुसरण करती है। वही वृत्ति 'चैतन्य' की वृत्ति कहलाती है जो वास्तव में (बहिर्मुखी) बुद्धि-वृत्ति से निर्लिप्त रह कर, उस (निरोधमुखी) बुद्धि-वृत्ति का अनुकरण मात्र है जिसने 'चैतन्य' का प्रिय रूप प्राप्त किया हुआ है। इसीप्रकार यह भी कहा गया है कि "न पाताल, न छिद्र, न पर्वत की अन्धकारमयी गुहा और न ही महासागरों के कोख का ऐसा गुप्त स्थान है जहां सनातन ब्रह्म रहता हो। महर्षिजन निर्लिप्त (निरोधमुखी) बुद्धि-वृत्ति की ओर संकेत करते हैं (जहां ब्रह्म स्थित है)"।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

मूलार्थ-- द्रष्टा और दृश्य से रंगा हुआ चित्त सब अर्थों (भोगापवर्ग) को रखने वाला है- २३.

अतश्चैतदुपगम्यते— द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् । मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं तत्स्वयं विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याभि-

अतः यह जाना जाता है कि द्रष्टा और दृश्य से रंगा हुआ चित्त सब अर्थों (भोगापवर्ग) को रखने वाला है; कारण, मन मनन किये जाने वाले अर्थ से रंगा जाता है। 'विषय' का भाव रखने के कारण चित्त स्वयं उस वृत्ति के साथ संबंधित होता है जो विषय को रखने वाले (विषयी) स्वामी 'पुरुष' की

सम्बद्धम् । तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते ।

आत्मीय बन जाती है। यह वही चित्त है जो द्रष्टा और दृश्य से रंगा जा कर यथाक्रम विषयी और विषय के आकार में भासता है। चेतन और अचेतन के स्वरूप में रूपान्तरित हो कर विषय के स्वभाव वाला होने पर भी विषयी के स्वभाव वाला सा होता है, स्फटिक मणी की न्याईं अचेतन होने पर भी चेतन दीख पड़ता है—ऐसा चित्त सर्वार्थ को रखने वाला कहा जाता है।

तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वम्—नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति । अनुकम्पनीयास्ते । कस्मादस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति ।

चित्त की इस एकरूपता से भ्रमित हो कर कई लोगों का कथन है कि यह स्वयं चेतन है। दूसरे कहते हैं कि यह सब केवल चित्त ही है और वास्तव में गाय आदि, घटादि रूप कोई संसार 'कारण' सहित नहीं है। वे लोग दया के पात्र हैं। क्यों? कारण, भ्रान्ति-बीज पूर्ण उनका एक चित्त ही है जो सब तत्त्वों के रूप में भासता है।

समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः । स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात् कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत ? तस्मात्प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति । एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात् त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनस्तैरधिगतः पुरुषः ॥ २३ ॥

समाधिप्रज्ञा में ज्ञेय तत्त्व प्रतिबिंबित होता है। उस चित्त द्वारा आलंबनीभूत होने का स्वभाव रखने के कारण यह 'अन्य' (अर्थात् पुरुष) है। यदि चित्तमात्र ही वह 'तत्त्व' हो तो स्वय प्रज्ञा द्वारा प्रज्ञा का स्वरूप कैसे निश्चित किया जाये? अतः समाधि-प्रज्ञा में प्रतिबिंबित हुआ 'तत्त्व' जिसके द्वारा निश्चित किया जाता है, वही 'पुरुष' है। इसप्रकार ग्रहीतृ (कर्त्ता), ग्रहण (करण) और ग्राह्य संबंधीय अभिव्यक्ति में चित्त की रूपान्तरप्राप्ति के कारण जो चित्त की त्रिविध समापत्ति (क) को भी इस (संप्रज्ञात-समाधि के) क्रम से विभक्त करते हैं, वे सम्यग्-दर्शी हैं। वे ही 'पुरुष' को प्राप्त करते हैं।

टि. सू. २३ (क) ग्राह्य संबंधीय समाधिप्रज्ञा स्थूल और सूक्ष्मालंबन है, ग्रहण संबंधीय प्रज्ञा करणग्राह्यालंबन है और ग्रहीतृ संबंधीय प्रज्ञा अहंग्राह्यालंबन है । इससे यह पूर्णतया स्पष्ट है कि जहां समाधि-प्रज्ञा में इन चार क्रमिक पदों से इस प्रकार का क्रमिक परिणाम नहीं है, वहा यथार्थ ज्ञान कभी भी नहीं आ सकता। 'पुरुष' अर्थात् नित्य सत्ता केवल पुस्तकीय ज्ञान से कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती। यही यहां का अभिप्राय है।

तदसङ्ख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

मूलार्थ— उन असंख्य संचित संस्कारों से रंगविरंगा हुआ चित्त 'दूसरे' ('पुरुष') के अर्थों को भी रखने वाला है; कारण, यह संसर्ग से कर्म करता है- २४.

कुतश्चैतत्? तदसङ्ख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्। तदेतच्चित्तमसङ्ख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थम्। न स्वार्थं संहत्यकारित्वात्। गृहवत्संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यं न सुखं चित्तं सुखार्थं न ज्ञानं ज्ञानार्थमुभयमप्येतत्परार्थम्।

यह ऐसे क्यों है? उन असंख्य संचित संस्कारों से रंगविरंगा हुआ चित्त 'दूसरे' के अर्थों को भी रखने वाला है; कारण, यह संसर्ग से कर्म करता है। वही यह चित्त है जो असंख्य संचित संस्कारों से रंगविरंगा हुआ 'दूसरे' के अर्थों से अर्थात् 'दूसरे' (विषयी पुरुष) के भोग और अपवर्ग रूपी अर्थों से युक्त है। संसर्ग द्वारा कर्म करने के कारण यह अपना कोई अर्थ नहीं रखता। गृह की न्याईं संसर्ग से कर्म करने के कारण चित्त अपने लिये नहीं होता। सुखमय अनुभव (भोग) सुख के लिये नहीं होता और न ही ज्ञान (अपवर्ग) ज्ञान (चित्तवृत्ति) के लिये होता है, परन्तु ये दोनों 'दूसरे' के अर्थ हैं।

यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवादपुरुषः स एव परो न परः सामान्यमात्रम्। यत्तु किंचित्परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद्वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात्। यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥ २४ ॥

पुनः जो भोग और अपवर्ग रूपी अर्थों से लक्षित होता है, वही 'पुरुष' निःसन्देह 'दूसरा' है, वह सामान्य श्रेणी का एक पृथक् (दूसरा) नहीं है। इसके विपरीत अपने स्वाभाविक धर्म सहित सामान्य श्रेणी का जो भी पृथक् दूसरा (तत्त्व) वैनाशिकों द्वारा कहा जाता है, वह निःसन्देह संसर्ग से काम करने के कारण 'दूसरे' के अर्थों से युक्त है। पुनः यह जो 'दूसरा' तथा पृथक् है और संसर्ग से काम नहीं करता, वही 'पुरुष' है।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

मूलार्थ— विशेष सत्य को देखने वाले के आत्मभाव का अनुसन्धान (खोज) समाप्त हो जाता है- २५.

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः। यथा प्रावृषि तृणांकुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्तानुमी-

जैसे वर्षाकाल में तृण के अंकुर उगने से घास की बीजसत्ता का अनुमान किया जाता है,

यते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते यस्याभावादिदमुक्तं स्वभावं मुक्त्वा दोषाद्येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति ।

वैसे ही मोक्षमार्ग (क) का नाम सुनने से जिसका रोमांच तथा अश्रुपात देखा जाये, उसमें विशेष सत्य को देखने का बीज अर्थात् मोक्षदायक (संचित) कर्म के फल देने का आरंभ होना अनुमान किया जाता है । इसके आत्मभाव का अनुसंधान (ख) स्वाभाविक ही जागता है; उस (बीज) के अभाव होने पर दोष के कारण उक्त स्वभाव को त्याग कर (मनुष्य की) रुचि विपरीत-गामी होती है तथा सत्य-निर्णय के प्रति उसमें घृणा उत्पन्न होती है।

तत्रात्मभावभावना कोऽहमासं कथमहमासं किंस्विदिदं कथंस्विदिदं के वा भविष्यामः कथं भविष्याम इति । सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तते। कुतः ? चित्तस्यैवैष विचित्रपरिणामः। पुरुषस्त्वसत्यामविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति । ततोऽस्यात्मभावभावना कुशलस्य विनिवर्तत इति ॥ २५ ॥

वहां आत्मभाव का अनुसन्धान इसप्रकार है— "मैं कौन था? मैं कैसे था? यह क्या है? यह कैसे है? हम क्या बनेंगे? हम कैसे बनेंगे?" विशेष सत्य को देखने वालों में इसका (खोज का) निःसन्देह अभाव होता है । कहां से? यह चित्त का केवल एक आश्चर्यजनक परिणाम है (ग)। अविद्या के अभाव होने पर 'पुरुष' शुद्ध तथा निर्लिप्त रहता है (घ)। इसीकारण से इस कुशल (योगी) का आत्मभाव संबंधीय अनुसन्धान समाप्त हो जाता है।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

मूलार्थ— तब चित्त विवेक-ख्याति की ओर झुकता है और कैवल्य के बोझ को सामने रखता है- २६.

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् । तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारमज्ञान-

इस काल में योगी का चित्त,—जिसने पहिले अपने सामने भोग्य विषयों का बोझ रखा था तथा जो अविद्या की ओर झुका हुआ था,—

टि. सू. २५ (क) सुकृतिवान् योगी की आर्त्त अवस्था नामक यह प्रथम स्थिति है। (ख) इस दूसरी स्थिति में वह 'सत्य' का अनुसंधानकारी बनता है।

(ग) यह तीसरी स्थिति है जहां वह मोक्ष के यथायोग्य साधनों में प्रयत्नशील हो कर समाधि-प्रज्ञा के क्रमिक पदों से गुज़रता है। (घ) यह चौथी स्थिति है जहां योगी अपनी दृढ़ स्वरूप-स्थिति को पुनः प्राप्त करता है अर्थात् नित्य तत्त्व को प्रत्यक्ष करके कुशल बन जाता है (भ. गी. ७।१६)।

निम्नमासीत्तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राग्भारं विवेकजज्ञाननिम्नमिति ॥ २६ ॥

दूसरे प्रकार का बन जाता है अर्थात् चित्त कैवल्य का बोझ अपने सामने रखता है तथा विवेक-जन्य ज्ञान की ओर झुकता है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

मूलार्थ— उन व्यवधानों में संस्कारों से दूसरे ज्ञान उठते हैं- २७.

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः । प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहारोहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराण्यस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा । कुतः ? क्षीयमाणबीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति ॥ २७ ॥

विवेक-ख्याति की ओर झुके हुए तथा 'सत्त्व' और 'पुरुष' के मध्य एकमात्र भेदज्ञान के प्रवाह में ही केवल आरूढ़ हुए चित्त के व्यवधानों में दूसरे ज्ञान आते हैं जैसे कि "मैं हूं, यह मेरा है, मैं जानता हूं" इत्यादि। कहां से ? यह पूर्व संस्कारों से आता है जिनकी बीजशक्ति क्षीण हो रही है।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

मूलार्थ— इनका 'हान' क्लेशों की न्याईं कहा गया है- २८.

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् । यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति । ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति न चिन्त्यन्ते ॥ २८ ॥

दग्ध बीज की स्थिति में पहुंचे हुए क्लेश जैसे अंकुरित होने में समर्थ नहीं होते, उसीप्रकार ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध बीज की अवस्था को प्राप्त हुए पूर्व संस्कार प्रत्यय (वृत्ति-ज्ञान) को प्रसव नहीं करते। परन्तु ज्ञान (दर्शन) के संस्कार चित्त के कर्त्तव्यों के अन्त तक रहते हैं, इसलिये ये चिन्ता के विषय नहीं हैं।

प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

मूलार्थ— धर्ममेघ नामक समाधि उस (योगी) को प्राप्त होती है जो ऋणों को पूर्ण रूप से चुकाने पर भी सूदखोरी में नहीं रहता तथा सर्व प्रकार से विवेक-ख्याति युक्त है- २९.

प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः । यदायं ब्राह्मणः प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्ततोऽपि न किंचित्प्रार्थयते तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव

जब यह ब्राह्मण (योगी) ऋणों को पूर्ण रूप से चुकाने पर भी सूदखोर नहीं रहता अर्थात् उस (विवेक-ख्याति) से भी कुछ नहीं मांगता तथा वह उससे भी विरक्त हो कर सर्वप्रकार से

भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते तदास्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥ २९ ॥

विवेक-ख्याति युक्त होता है और संस्कारों के बीज-क्षय होने पर उसके दूसरे प्रत्यय उत्पन्न नहीं होते, तब ही उसे धर्म-मेघ नामक समाधि प्राप्त होती है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

मूलार्थ— उससे क्लेश और कर्मों का अन्त (होता है)– ३०.

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः । तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति । कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति । क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति । कस्मात् ? यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम् । नहि क्षीणक्लेशविपर्ययः कश्चित्केनचित्क्वचिज्जातो दृश्यत इति ॥ ३० ॥

इसकी प्राप्ति से अविद्यादि क्लेश मूल सहित पीसे जाते हैं। पाप और पुण्य के कर्माशय मूल सहित नष्ट हो जाते हैं। क्लेश और कर्म के अन्त होने पर विद्वान् (योगी) जीवित रहने पर भी पूर्णतया मुक्त रहता है। क्यों? कारण, उल्टा ज्ञान ही पुनर्जन्म का कारण है। जिसके क्लेश और उल्टे ज्ञान नष्ट हो चुके हैं, वह किसी से भी कहीं भी जन्मा हुआ देखा नहीं जाता।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

मूलार्थ— तब सब आवरण से मुक्त हुए ज्ञान की अनन्तता के कारण 'ज्ञेय' (दृश्य) अल्प बन जाता है– ३१.

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् । सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति । तमसाभिभूतमावृतमनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति ।

क्लेश और कर्मों के सब आवरणों से मुक्त हुए ज्ञान को अनन्तता आती है। अनन्त ज्ञान-सत्त्व तमोगुण द्वारा ढका जाने पर अर्थात पराजित हो कर कदाचित् ही रजोगुण द्वारा क्रियावान् होता है अर्थात् खोला जाता है और (इस अनन्तता को) ग्रहण करने में समर्थ होता है।

तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतं भवति तदा भवत्यस्यानन्त्यम् । ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते यथाकाशे खद्योतः । यत्रेदमुक्तम् —

वहां जब यह (ज्ञान-सत्त्व) सब आवरण मल से मुक्त होता है तब ही इसे अनन्तता प्राप्त होती है। ज्ञान की इस अनन्तता से आकाश में जुगनु की न्याईं ज्ञेय (दृश्य) अल्प बन जाता है। यहां यह कहा गया है — "अन्धे ने मणि में छिद्र

...न्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत् । अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयदिति ॥ ३१ ॥

किया, अंगुलीहीन ने उस में धागा डाला, ग्रीवाहीन ने उसे पहिना और जिह्वाहीन ने उसकी प्रशंसा की " (क)।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

मूलार्थ — उससे अर्थों को संपादित किये हुए गुणों के परिणाम-क्रम में समाप्ति आती है- ३२.

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्। तस्य धर्ममेघस्योदयात्कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते। नहि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

उस धर्ममेघ के उदय से अर्थों को संपादित किये हुए गुणों के परिणाम-क्रम की परिसमाप्ति होती है; कारण, जिन गुणों ने भोग और अपवर्ग को पूर्ण कर लिया है और जिसका क्रम समाप्त हो चुका है वे एक भी क्षण के लिये ठहरने का साहस नहीं कर सकते।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

मूलार्थ — क्षणों से संबंधित क्रम को परिणाम की परिसमाप्ति से निश्चित किया जाता है- ३३.

अथ कोऽयं क्रमो नामेति? क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः। क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसनेन गृह्यते क्रमः। नह्यननुभूतक्रमक्षणान्नवस्य पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति।

अब वास्तव में यह क्रम क्या है? क्षणों से संबंधित क्रम को परिणाम की परिसमाप्ति से निश्चित किया जाता है। क्षणों के व्यवधान के स्वभाव वाले क्रम को परिणाम की परिसमाप्ति अर्थात् इसके अन्त से ग्रहण किया जाता है; कारण, क्षणों के क्रम को अनुभव किये बिना नये वस्त्र की पुरातनता अन्त में नहीं आ सकती।

नित्येषु च क्रमो दृष्टः। द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य। परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन्परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्।

नित्य के संबंध में भी क्रम देखा जाता है। यह नित्यता दो प्रकार की है— कूटस्थ नित्यता और परिणामी नित्यता। वहां कूटस्थ नित्यता 'पुरुष' की है और परिणामी नित्यता गुणों की। नित्य वह है जो परिणत होने पर भी जिसका तत्त्व नष्ट नहीं होता। पुनः इन दोनों का तत्त्व नष्ट न होने के कारण इनकी नित्यता है।

टि. सू. ३१ (क) इसका अभिप्राय यह है कि विवेकख्याति अनिर्वचनीय है। पुनः यही अनिर्वचनीय ख्याति वेदान्त-दर्शन का आधार है।

तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः । कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति । तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठेन अस्तिक्रियामुपादाय कल्पयत इति ।

वहां गुणधर्म से युक्त बुद्धि आदि में परिणाम की परिसमाप्ति से निर्धारित क्रम लब्ध पर्यवसान वाला (अन्त को प्राप्त हुआ) है और (गुण नामक) नित्य धर्मी के संबंध मे यह (क्रम) अलब्ध-पर्यवसान वाला (अन्त को न प्राप्त हुआ) है । कूटस्थ नित्य के संबंध में अर्थात् एक मात्र स्वरूप में ही प्रतिष्ठित मुक्त ‘ पुरुषों ’ (क) के बारे में उन के स्वरूप का अस्तित्व केवल क्रम से ही अनुभव किया जाता है । इसलिये वहां भी अलब्ध पर्यवसान वाला क्रम को शब्द-रचनानुसार ‘ है ’ (अस्ति) क्रियापद के ग्रहण द्वारा अनुमान किया जाता है ।

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति । अवचनीयमेतत् । कथम् ? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यति मृत्वा जनिष्यत इति । ॐ भो इत्यथ सर्वो जातो मरिष्यतीति मृत्वा जनिष्यत इति ? विभज्य वचनीयमेतत्प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते ।

अब स्थिति और गति सहित गुणों में वर्तमान संसार के क्रम का अन्त है या नहीं ? इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता । कैसे ? एक प्रश्न है जिसका उत्तर एक ही दिशा से दिया जा सकता है— “ जो जन्मे हैं वे सब मरेंगे और मरने के पश्चात् पुनः जन्मेंगे ” । यदि प्रश्न इसप्रकार का हो— “ ओहो ! क्या यह ऐसे है कि सब जन्मे हुए प्राणी मरेंगे तथा मर कर फिर जन्मेंगे ” ? इसका उत्तर दो दिशाओं से दिया जाता है । विवेकख्याति के उदय से युक्त तथा नष्ट हुई इच्छाओं वाला कुशल (योगी) नहीं जन्मेगा, दूसरे सब पुनः जन्मेंगे ।

तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति ।

इसीप्रकार मनुष्य-जाति श्रेष्ठ है या नहीं— ऐसा प्रश्न पूछे जाने पर प्रश्न का उत्तर दो दिशाओं से दिया जाता है । पशुओं की तुलना में मनुष्य-जाति श्रेष्ठ है परन्तु देवताओं और ऋषियों की तुलना में नहीं ।

टि. सू. ३३ (क) ‘ पुरुष ’ के बहुत्व के लिये दूसरे अध्याय के २२ वें सूत्र की टिप्पणी देखो ।

अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति। कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येति । अन्यतरावधारणे दोषस्तस्माद्व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति ॥ ३३ ॥

पुनः इस प्रश्न का उत्तर भी नहीं दिया जा सकता कि " संसार का अन्त है या नहीं ? " कुशल के लिये संसार-क्रम की परिसमाप्ति है, दूसरे के लिये नहीं; किसी भी अन्य प्रकार के निर्धारण में दोष है। अतः इस प्रश्न की व्याख्या केवल विभक्त दिशाओं से ही करनी है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

मूलार्थ— 'पुरुष' के अर्थों से शून्य गुणों का अदृश्य होना कैवल्य है अर्थात् चितिः रूप शक्ति स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है- ३४.

गुणाधिकारक्रमपरिसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं तत्स्वरूपमवधार्यते-- पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति । कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मकानां गुणानां तत्कैवल्यम्। स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभि-

यह कहा गया है कि गुणों के कर्त्तव्यों में क्रम की परिसमाप्ति पर कैवल्य आता है। अब इसका स्वरूप निर्धारण किया जाता है। 'पुरुष' के अर्थों से शून्य गुणों का अदृश्य होना कैवल्य है अर्थात् " चितिः " नामक शक्ति स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। भोग और अपवर्ग को संपादन करने के पश्चात् 'पुरुष' के अर्थों से शून्य हुए कार्य-कारण के स्वभाव वाले गुणों का जो अदृश्य होना है, वही कैवल्य है। पुनः 'स्वरूप-प्रतिष्ठा' शब्द का यह अर्थ है कि बुद्धिसत्त्व के साथ साक्षात् संबंध का अभाव होने के कारण 'पुरुष' (क) की 'चितिः'

टि. सू. ३४ (क) इस शास्त्र में भाष्यकार बन्धन और मुक्ति को केवलमात्र चितिः नामक शक्ति के संबंध में ही कहते हैं, परन्तु स्वयं 'पुरुष' के संबंध में नहीं जिसे वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म अर्थात् 'वस्तु' कहा जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि योगसूत्र की यह विद्या केवल कर्मभूमि से ही संबंध रखती है और यह कर्म एकमात्र शक्ति में ही रहता है, परन्तु शुद्ध तत्त्व 'वस्तु' (ब्रह्म) में नहीं। आगे चल कर चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये ब्रह्मसूत्र इस विद्या के फल को आधार रूप में अपनाते हुए कर्मभूमि के पार शुद्ध तत्त्व 'वस्तु' के यथार्थ स्वरूप निर्धारण के उद्देश्य से ही आरंभ होता है।

अब हमें ध्यान में रखना है कि योगसूत्र में विधान किये गये साधनों के पूर्ण संपादन को ही ब्रह्मसूत्र द्वारा निर्दिष्ट तत्त्व के अनुसन्धान के लिये योग्यता की श्रेणी अवश्य ही मानना पड़ेगा। और इस कथन पर किसी प्रकार का मत-भेद नहीं हो सकता कि हमारे दार्शनिक ग्रन्थों में रखा गया तत्त्व केवल एक ही है।

सम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

नामक शक्ति 'केवल' (निर्लिप्त) होती है; इस (चितिः नामक शक्ति) का सदा काल के लिये इसी अवस्था में ही रहना 'कैवल्य' है ।

इति श्री पातञ्जल-भाष्ये सांख्यप्रवचने कैवल्यपादः चतुर्थः समाप्तः ।

यहां सांख्य के श्रेष्ठतम उपदेश में पतञ्जली द्वारा प्रणीत योगविज्ञान संबंधीय कैवल्यपाद नामक चौथा अध्याय समाप्त होता है ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

अतः हमारे प्रामाणिक शास्त्रों में विरुद्धता को दिखाते हुए परस्पर विरुद्ध दृष्टिकोणों सहित ब्रह्मसूत्र पर नाना प्रकार के भाष्य हमें केवल विपद्गामी करते हुए अज्ञान अंधकार के भंवरजाल में ही डालते हैं । यह निःसन्देह एक सुखमय दिवस के उदय का द्योतक होगा जब दार्शनिक पंडितगण अपने भेदभावों को त्याग कर हमारे महर्षियों द्वारा क्रमबद्ध दर्शन-विज्ञान में दिखाये गये पथ को अपनाते हुए इस न्यायविरुद्ध जटिल समस्या का समाधान करने की चेष्टा करेंगे । यह कार्य हो जाने पर मुक्ति का उज्वल पथ अपने सारे सौन्दर्य सहित हमारी आंखों के सामने चमकेगा और तब ही हम निःसन्देह लक्ष्य को प्राप्त करेंगे ।